विवेक ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

विवेकानन्द आश्रम

रायपुर

"मध्यप्रदेश शिक्षा विभाग के आदेश क्रमांक स। विधा।टा। ५६४
दिनांक ४ मार्च १९६४ द्वारा स्वीकृत"

विवेक-ज्योति

श्री रामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अप्रैल-जून १९६८

प्रधान सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

सह-सम्पादक एवं व्यवस्थापक

सन्तोषकुमार झा

विवेकानन्द आश्रम

(रायपुर, मध्यप्रदेश)

फोन नं. १०४६

विवेक ज्योति नियमावली

वार्षिक चन्दा { भारत में— ४) विदेशों में— २ डालर या १० शिलिंग

एक अंक का १)

ग्राहकों के लिये—

१. 'विवेक-ज्योति' जनवरी, अप्रैल, जुलाई और अक्तूबर महीने में प्रकाशित होती है। इसका वार्षिक चन्दा मनीआर्डर से भेजना चाहिये। पिछली प्रतियां बाकी रहने पर ही भेजी जा सकती हैं।

२. ग्राहकों को पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक-संख्या, नाम और पता स्पष्ट अक्षरों में लिखना चाहिए।

३. यदि कोई अंक न मिले, तो डाकखाने में पहले पूछताछ करनी चाहिये। जिस अवधि का अंक न मिला हो उसी अवधि में सूचना प्राप्त होने पर, अंक की प्रति बची रहने पर ही भेजी जायगी।

४. यदि पता बदल गया हो, तो उसकी सूचना तुरन्त दी जानी चाहिए।

लेखकों के लिये—

१. 'विवेक-ज्योति' में आध्यात्मिक, धार्मिक, सांस्कृतिक लेख तो रहेंगे ही, पर शिक्षा, मनोविज्ञान, कला, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, विज्ञान प्रभृति महत्वपूर्ण विषयों पर जीवन के उच्चतर मूल्य सम्बन्धी लेख भी उसमें प्रकाशित किए जायेंगे। उसी प्रकार उच्च भावों की प्रेरणा देनेवाले ऐतिहासिक और राष्ट्रीय चरित्रों के लिए भी इस त्रैमासिक में स्थान रहेगा।

सुसंस्कृत अभिरूचिपूर्ण कविता, विशिष्ट दृष्टिकोण से लिखे गये यात्रा–प्रसंग तथा पुस्तकों की समीक्षा को भी इसमें स्थान प्राप्त होगा।

२. किसी प्रकार की व्यक्तिगत या विघातक टीका के लिए 'विवेक-ज्योति' में स्थान न रहेगा।

३. लेख में प्रतिपादित मत के लिए लेखक ही जिम्मेदार रहेगा।

४. लेख को प्रकाशन के लिए स्वीकृत करने पर उसकी सूचना एक माह के भीतर दी जायगी। अस्वीकृत रचना आवश्यक टिकट प्राप्त होने पर ही वापस की जायेगी।

५. यदि लेख एक अनुवाद हो, तो लेखक को साथ में यह भी सूचना देनी चाहिए कि अनुवाद की आवश्यक अनुमति ले ली गयी है।

६. लेख कागज के एक ही ओर सुवाच्य, अक्षरों से लिखे जायँ।

७. लेख संबंधी पत्र-व्यवहार सम्पादक से करना चाहिए।

—व्यवस्थापक

—: सूचना :—

'विवेक–ज्योति' के पिछले अंकों की कुछ प्रतियां प्राप्य हैं। जो इन पिछले अंकों का संग्रह करना चाहते हैं, वे १) की एक प्रति के हिसाब से खरीद सकते हैं। सुन्दर उद्बोधक विचारप्रवण लेखों से परिपूर्ण 'विवेक–ज्योति' का हर अंक संग्रहणीय है।

–व्यवस्थापक, 'विवेक–ज्योति'

अनुक्रमणिका

कव्हर चित्र–परिचय : स्वामी विवेकानन्द

(परिव्राजक के रूप में, त्रिवेन्द्रम, दिसम्बर १८९२)

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(प्रथम तालिका)

१. डा. (कु.) हेमलता भट्ट, रायपुर
२. श्री दत्तात्रय जगम, स्टेट बैंक आफ इंडिया, पचमढ़ी (म. प्र.)
३. ,, महावीर धाड़ीवाल, सदर बाजार, रायपुर
४. ,, बंशीलाल पांडे, कुलपति, रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर
५. ,, रामचन्द किसनदास बैंकर्स, जवाहरनगर, रायपुर
६. पं. शंकरानन्द झा, पुरानीबस्ती, रायपुर
७. श्री श्यामकिशोर अग्रवाल, पुरानीबस्ती, रायपुर
८. ,, धनीराम वर्मा, सत्तीबाजार, रायपुर
९. श्रीमती हीराबाई बोरदिया, मोतीबाग, नई दिल्ली २३
१०. श्री एन.एन. वीरमणि, पुलिस अधीक्षक, रायपुर
११. ,, बागड़िया ब्रदर्स, जवाहर नगर, रायपुर
१२. ,, सी.पी. कमर्शियल एजेन्सी, एडवर्ड रोड, रायपुर
१३. ,, रामलाल चन्द्राकर, नारा, रायपुर
१४. ,, हजारीलाल वर्मा, सत्तीबाजार, रायपुर
१५. ,, ग्वालदास डागा, सदर बाजार, रायपुर
१६. ,, मुन्नालाल शुक्ला, शुक्ला टिंबरयार्ड्स, रायपुर
१७. श्रीमती कुसुमताई दाबके, सिविल लाइन्स, रायपुर
१८. श्री माखनलाल परगनिहा, रायपुर
१९. डा. प्रवीणचन्द्र पटेल, सुभाष रोड, रायपुर
२०. श्री अनन्तराय मजीठिया, गोलबाजार, रायपुर

२१. श्री नरसीभाई सोलंकी, इंडियन मिल्स स्टोर्स, रायपुर
२२. ,, एम. एन. देशपांडे, चार्टर्ड एकाउन्टेंट, रायपुर
२३. श्रीमती लक्ष्मीदेवी सिंघानिया,
हिन्दुस्थान मिल्स स्टोर्स, रायपुर
२४. श्री नारायणभाई पिथलिया, आर.एम.ई. वर्क्स,
फाफाडीह, रायपुर
२५. ,, माधवहरि सहस्त्रबुद्धे, गोपालबाग,
मौदहापारा, रायपुर
२६. ,, ईश्वर सा मिल, फाफाडीह, रायपुर
२७. ,, राजेन्द्र टिम्बर कंपनी, फाफाडीह, रायपुर
२८. ,, लक्ष्मी सा मिल, फाफाडीह, रायपुर
२९. ,, कांजीभाई राठौर, हिम्मत स्टील फाउण्ड्री,
रायपुर
३० डा. पी. के. चौहान, सदरबाजार, रायपुर
३१. श्री बल्देव भाई, बर्तन दूकान, सदर बाजार, रायपुर
३२. श्री नथमल सेठ, मालवीय रोड, रायपुर
३३. डा० जी. पी. श्रीवास्तव, हृदय विशेषज्ञ,
कटोरातालाब, रायपुर
३४. महंत श्री वैष्णवदास, दूधाधारी मठ, रायपुर
३५. श्री तुंगनराम चन्द्राकर, बरौदा, रायपुर
३६. श्री रोमनाथ चन्द्राकर, भानसोज, रायपुर
३७. श्री रामलाल चन्द्राकर, खौली, रायपुर
३८. श्री दादूलाल चन्द्राकर, छतौना, रायपुर
३९. श्रीमती राधाबाई चन्द्राकर, कुरुद, धमतरी
४०. कुमारी प्रीति बोस, प्राध्यापिका, शिक्षा
महाविद्यालय, रायपुर

"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण – विवेकानन्द – भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष ६] अप्रैल – मई – जून [अंक २

वार्षिक शुल्क ४) ❀ १९६८ ❀ एक प्रति का १)

नरक के द्वार

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥

– काम, क्रोध और लोभ – ये तीन प्रकार के नरक के द्वार है। ये हमारा नाश कर डालते हैं; इसलिए इन तीनों का त्याग करना चाहिए। हे कौंतेय ! इन तीनों तमों द्वारों से छूटकर मनुष्य वही आचरण करने लगता है कि जिसमें उसका कल्याण हो; और फिर उत्तम गति पा जाता है।

– गीता, १६। २१, २२

तीव्र वैराग्य

एक समय की बात है, किसी देश में वर्षा बहुत कम हुई। फसलें सूखने लगीं और चारों ओर हाहाकार मच गया। किसानों में भय और चिन्ता व्याप्त हो गयी। खेत में पानी लाने के साधन खोजे जाने लगे। किसान बड़ी दूर-दूर से नालो खोदकर जल लाने का प्रबन्ध करने लगे। उनमें से एक किसान धुन का पक्का था। उसने एक दिन प्रतिज्ञा कर ली कि जब तक वह नाली को नदी तक नहीं पहुँचा देता तब तक वह खोदना बन्द नहीं करेगा। इधर नहाने–धोने का समय भी हो आया। घरवाली ने लड़की के हाथ नहाने के लिए तेल भेज दिया। लड़की ने आकर कहा, "बाबू ! अबेर हो गयी। चलो तेल लगा लो और नहा डालो।" किसान बोला, "तू अभी जा, मेरा काम बाकी है।" दिन ढलने लगा, पर किसान का काम चला ही हुआ है। नहाने-धोने की कोई बात तक नहीं। तब उसकी स्त्री खेत पर आयी और कहने लगी, "अभी तक नहाया क्यों नहीं ? सारी रसोई ठंडी हो गयी। तुम्हारे तो सिर पर भूत चढ़ा कि बस ! आज न हुआ तो कल काम पूरा कर लेते। या खाना खाकर कर लेते।" सुनते ही किसान गालियाँ देता हुआ कुदाल हाथ में लेकर अपनी स्त्री की ओर झपटा और चिल्लाया, "तेरी मति मारी गयी है ?

देखती नहीं, बरखा हुई नहीं; धान-वान कुछ हुआ नहीं। इस बार लड़के-बच्चे क्या खायेंगे? तुम लोग बिना खाये मरोगे? मैंने प्रतिज्ञा की है कि आज खेत में पानी लाऊँगा, तब कहीं नहाने-खाने की बात करूँगा।" स्त्री ने जब पति का यह भयंकर रूप देखा तो वह भागकर चली गयी। किसान सारा दिन खटता रहा और अन्त में साँझ के समय उसने नाली को नदी के साथ मिला ही दिया। तब कुदाल फेंककर वह इतमीनान से खेत की मेड़ पर बैठ गया और सन्तोषपूर्वक देखने लगा कि कैसे नदी का जल नाली में से कलकल बहता हुआ उसके खेत में आ रहा है। उसका मन शान्ति और आनन्द से भरपूर हो गया। वह घर लौटा और अपनी स्त्री को पुकारकर बोला, "ला, अब तेल दे और जरा तमाखू सजा।" फिर निश्चिन्त होकर उसने स्नान और भोजन किया और सुख की नींद सोकर खर्राटे भरने लगा! ऐसी धुन की तुलना तीव्र वैराग्य से की जा सकती है।

एक दूसरा भी किसान था। वह भी अपने खेत में पानी लाने में लगा था। जब उसकी स्त्री उसके पास गयी और बोली, "चलो, बड़ी देर हो गयी है। अब छोड़ दो। इतना ज्यादा काम करना ठीक नहीं," तो उसने अपनी पत्नी को कोई खरी-खोटी नहीं सुनायी बल्कि कुदाल रखकर वह उससे बोला, "तू जब कहती है तो चल।" वह किसान अपने खेत में पानी न ला सका! यह मन्द

वैराग्य की तुलना है।

धुन यदि पक्की न हो तो जैसे किसान के खेत में पानी नहीं आता, उसी प्रकार तीव्र वैराग्य के अभाव में मनुष्य ईश्वर-प्राप्ति से वंचित रह जाता है।

अध्यात्म पथ

ब्रह्मलीन स्वामी यतीश्वरानन्द जी महाराज

(यूरोप में दी गई वार्ता के आधार पर)

सदैव नैतिकता के रास्ते से चलो, अपने लिए अध्यात्म का पथ प्रशस्त करो। कई लोगों को अपवित्रता का बोध नहीं होता। वे जितना अधिक दूषित कर्म करते हैं, उतने ही विचारशून्य हो जाते हैं। उनकी समस्त नैतिक सजगता नष्ट हो जाती है। उन्हें ग्लानि या लज्जा का बोध भी नहीं होता। अतीत की बातों को सोचना बन्द कर दो। अतीत चाहे जैसा रहा हो, यही सोचो कि जो हो गया सो हरदम के लिए हो गया, उसे अब मिटाया नहीं जा सकता। अतएव पवित्रता का चिन्तन करो। भविष्य में क्या करना चाहोगे उसका चिन्तन करो। कहा है न– 'बीती ताहि बिसारि दै आगे की सुधि लै'। जो अपने आपको पवित्र समझता है, वह पवित्र हो जाता है। समस्त पुराने सम्पर्कों और संस्कारों को निकालकर उनकी जगह अच्छे और पवित्र संस्कार भरने की कोशिश करो।

स्वामी विवेकानन्द कहा करते थे, "तुम पाप-पाप क्यों करते रहते हो ? क्या कीचड़ से कभी कीचड़ साफ़ होगा ?" अपवित्रता का चिन्तन करने से तुम पवित्र नहीं बन सकते। यदि अपने आपको पापी समझते रहो तो उससे तुम्हारा पाप दूर नहीं होगा। यह

एक भ्रम है और गलत मनोविज्ञान का परिणाम है। इससे बल्कि विपरीत फल पैदा होगा। यदि हम पाप और अपवित्रता की बातों को मन में हरदम उठाते रहे तो हम भूल जाते हैं कि अपनी आध्यात्मिक साधना द्वारा हम कुछ प्राप्त कर सकते हैं। सदैव स्फूर्तिप्रद और विधेयात्मक विचारों को मन में उठाओ। यह न सोचो कि "मैं कितना पापी हूँ; ओह, मैं कितना अपवित्र हूँ"; बल्कि सोचो, "पवित्रता मेरा यथार्थ स्वभाव है, वह मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है। मैं मुक्त स्वभाव हूँ। शुचिता और पवित्रता ही मेरी प्रकृति है !"

प्रयत्नपूर्वक चेतना के केन्द्र को उच्चतर स्थानों पर ले जाना साधक के लिए एक बड़ी महत्वपूर्ण बात है। मनुष्य में भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक ये तीन प्रकार की क्रियाएँ होती हैं। कुछ लोगों में चेतना का केन्द्र उदर होता है। ऐसे लोग पेटू और शराबी होते हैं। कुछ दूसरों में चेतना हृदय में केन्द्रित होती है। ऐसे लोग निम्न विचारों से ग्रसित होते हैं। असल में भौतिक क्रियाओं की तुलना में विचार अधिक महत्वपूर्ण है। केवल अपवित्र क्रियाओं को ही नहीं रोकना है बल्कि उनकी जड़ को भी नष्ट करना है। इस दृष्टि से देखा जाय तो भौतिक क्रियाओं का दमन करना बुरा नहीं है। यदि इससे कुछ कुण्ठाएँ भी पैदा हों तो वह भी बुरा नहीं है। भावनाओं के सम्पूर्ण उदात्तीकरण के लिए हमें इसमें से होकर जाना ही पड़ता है। कुण्ठाओं को लेकर

इतना रोना-चिल्लाना क्यों ? हमारी प्रत्येक क्रिया कुण्ठाओं को जन्म देती है। यदि यौन-उच्छृंखलता एक प्रकार की कुण्ठाएँ उपजाती हैं तो यौन-दमन से एक दूसरे रूप में कुण्ठाएँ प्रकट होती हैं। अतः हमें देखना यह है कि किस प्रकार की कुण्ठाएँ हमें उच्चतर जीवन की ओर ले जायेंगी तथा हमें अधिकाधिक स्वतंत्र बनाते हुए उच्चतम लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक बनेंगी। हम संसार में जो भी कर्म करें, उससे कुण्ठाएँ उपजती हैं। इस जगत् में केवल भौतिक नियम ही कार्यशील नहीं हैं, आध्यात्मिक राज्य में भी प्रकृति के नियम कार्यरत हैं। अतः हमें केवल भौतिक नियमों का ही पालन करना नहीं है। इन बातों में मनुष्य को स्वयं अपनी परख करनी चाहिए। साधक को चाहिए कि वह इन्द्रियों को उत्तेजित करने वाली समस्त बातों से अपने आपको दूर रखे। छोटे पौधे को बचाने के लिए चारों ओर से बेड़ा लगाना पड़ता है। आध्यात्मिक जीवन के लिए भी हमें ऐसा ही करना पड़ता है। उसके लिए एकाग्रता और सुदृढ़ इच्छाशक्ति का विकास आवश्यक है। अस्थिरचित्त और दुर्बल व्यक्ति इस रास्ते पर नहीं चल पाते। "यदि तुम्हें दुनिया भर के देवी-देवताओं में विश्वास है पर अपने आप पर नहीं, तो मुक्ति तुमसे दूर है।" कुछ विशेष मानसिक प्रवृत्ति वालों को पाप की भावना से लाभ पहुँच सकता है,पर तभी जब वह अंकुश का काम देती है। वह यदि उच्चतर जीवन की ओर ले जाती है तो ठीक

है । पर अपवित्रता की समस्त परतों को दूर करने का उससे कहीं श्रेष्ठ उपाय अपने यथार्थ, शुद्ध, निष्पाप और शाश्वत स्वरूप का चिन्तन करना है। आध्यात्मिक दृष्टि से देखने पर हम स्वयं अपने पूर्वज हैं। हम उसी का उपभोग करते हैं जो हमने किया है। पुनर्जन्म कोई सबसे महत्वपूर्ण तथ्य नहीं है। हमें तो इसी जीवन में पूर्ण बन जाने की कोशिश करनी चाहिए। अतः पुनर्जन्म पर अनावश्यक जोर नहीं देना चाहिए। यदि मेरा वर्तमान जीवन मेरे स्वयं के अतीत का परिणाम है तो निष्कर्ष यह निकला कि हम अपने भविष्य को बदल सकते हैं। कर्म और भाग्य ये दोनों एक ही अर्थवाचक शब्द नहीं हैं। कर्म का सिद्धान्त पुरुषार्थ का सिद्धान्त है– वह ज्ञान-सहित बुद्धि का प्रयोग करते हुए स्व-प्रयत्न पर जोर देता है। वह अकर्मण्यता और भाग्यपरायणता की शिक्षा नहीं देता।

कुछ लोग होते हैं जो सांसारिक जीवन बिताने मात्र से सन्तुष्ट नहीं होते। वे कुछ उच्चतर उपलब्धि की इच्छा करते हैं। वे विषयों के बन्धन से मुक्त होना चाहते हैं। पर इनमें से कई रास्ते में गिर भी पड़ते हैं। तो हमें क्या करना चाहिए ? उन्हें हम पड़े रहने दें और बाजू से आगे बढ़ जायें। एकमात्र लक्ष्य ही सब समय आँखों के सामने झूलता रहे। दायें या बायें मत देखो। फल और परिणाम की परवाह न करो। यदि कोई तथाकथित प्रेम से परिचालित होकर थोड़ी दूर तक

तुम्हारे साथ आना चाहे तो सावधान ! उसके प्रेम का विश्वास न करो। वह आक्टोपस के समान तुम्हें अपने तथाकथित प्रेम के घेरे में बाँध लेना चाहता है। यदि तुम्हारी अस्वीकृति से उसका हृदय टूट जाता है तो टूटने दो। वह प्रेम सांसारिक है, उसे पास न फटकने दो। वह केवल व्यक्ति के अहं का प्रकाश है, उसकी वासनाओं का प्रकट रूप है। वह सच्चे अर्थों में प्यार है ही नहीं। ऐसे लोग तुम्हें नीचे खींच ले जाना चाहते हैं, अपनी वासनाओं के जाल में तुम्हें बाँध लेना चाहते हैं और तुम्हें अपनी सम्पत्ति बना लेना चाहते हैं। कुछ लोग जन्म से ही कुछ गम्भीर प्रकृति के होते हैं और वे संसारी लोगों से विशेष हिल-मिल नहीं पाते। ऐसे लोगों के लिए उपर्युक्त खतरा उतना अधिक नहीं है। पर जो भावुक होते हैं, उन्हें विशेष सावधान रहना चाहिए। यदि तुम्हें कोई हृदयहीन और निर्मम कहे तो परवाह न करो। वे हृदय का मतलब कोरी भावुकता करते हैं। यदि कोई आकर प्यार की बातें करे, तो साधक को उसकी बातों में नहीं आना चाहिए। उसे कठोर होना चाहिए। वह यह परवाह न करे कि इससे प्यार जतानेवाले का दिल टूट जायेगा। सच्चा प्रेम बन्धनकारक नहीं होता। वह प्रेमास्पद के लिए उन्नयन-कारक होता है। बाकी सभी प्रकार का प्यार एक आसक्ति है। उसे दूर करना चाहिए। किसी की भावु-कता में अपने आपको बाँध न लो। "आह, हम दोनों तो

एक दूसरे के लिए बने हैं ! हम एक दूसरे के लिए कितना इन्तजार कर रहे थे !"– ऐसे उद्गार अर्थहीन भावुकता हैं– प्रलाप हैं !

बड़े बड़े अवतारी महापुरुष इस धराधाम पर आये और मानवता को उन्हीं शाश्वत सत्यों की बारम्बार सीख दे गये, पर संसार अपने ही ढंग से चल रहा है ! वे सचमुच चतुर हैं जो संसार के जाल से अपने को मुक्त कर लेते हैं। अध्यात्म के पथ में कोरी भावुकता सबसे बड़ी शत्रु है। यदि तुम बिना लक्ष्य पर पहुँचे बीच में ही मार्गच्युत हो जाओ तो दुःख-कष्टों की सीमा न रहेगी। हम पर केन्द्राभिमुखी और केन्द्रापसारी ये दो शक्तियाँ काम कर रही हैं। यदि हम किसी स्पर्शरेखा पर छिटककर निकल जायँ और अक्ष में पहुँच जायँ, तो हम सुरक्षित रहते हैं। अन्य किसी स्थान पर हमारी सुरक्षा नहीं है।

पवित्र हृदय सत्य का दर्पण बन जाता है। शुद्ध और मननशील मन भी सत्य को प्रतिबिम्बित करता है। उपलब्धि की उच्चतम अवस्था में हृदय और मन दोनों को लाँघ दिया जाता है। जब मन सजग होता है और मनन करता है तो वह उच्चतर जीवन के आदर्श के प्रति उत्तरोत्तर उन्मुख होता जाता है। जैसे जैसे वह शुद्ध होता है, उसकी वैचारिक शक्ति बढ़ती है और वह सत्य को अधिकाधिक प्रतिबिम्बित करता है। जब तक हमारे हृदय में क्षणभंगुर शरीर के प्रति प्यार और आकर्षण है

तब तक ईश्वर के लिए सच्ची विकलता नहीं आ सकती। परन्तु हर व्यक्ति के जीवन में ऐसे क्षण आ सकते हैं जब उसके लिए शरीर का आकर्षण खत्म हो जाता है। तभी आध्यात्मिक जीवन के लिए स्पृहा जगती है और तब संसार की वस्तुएँ उसे असार और नीरस प्रतीत होती हैं।

एक महात्मा की कथा है। तब उन्होंने घरबार नहीं छोड़ा था। उनकी लड़की ने किसी सन्दर्भ में उनसे कहा, "पिताजी, दिन तो बीतने पर आ गया।" सुनते ही उनके हृदय में बिजली सी कौंध गयो। सहसा कह उठे, "क्या, सचमुच ?" और बस, घर-बार छोड़कर विरागी हो गये। जो अर्थ उनकी लड़की ने अपने शब्दों में कभी न सोचा था, पिता के मनश्चक्षु के सामने वह गहरा अर्थ झूल गया। अध्यात्म के पथ पर अग्रसर होने के पहले संत तुलसीदास अपनी पत्नी के प्रति विशेष आसक्त थे, इतने अधिक कि पत्नी के मायका चले जाने पर वे भी पीछे-पीछे चले आये। पत्नी ने खीजकर इतना ही कहा था– "अस्थिचर्ममय देह मम तामै जैसी प्रीति। जो होती रघुनाथ में कट जाती भवभीति।" –पर तुलसीदास के मानस के सामने इन शब्दों का गहरा अर्थ उभर आया और वे उसी क्षण सब कुछ छोड़कर वीतरागी बन गये। नारद तब पूर्ण ज्ञानी नहीं हुए थे। वे सनत्कुमार के पास आये और उनसे निवेदन किया, "भगवन्, मैंने समस्त शास्त्रों का अध्ययन किया है, पर मुझे शान्ति

नहीं मिली है। मैं दुखी हूँ। आप मेरी रक्षा करें !" सनत्कुमार ने पूछा, "अच्छा, यह तो बताओ, तुमने क्या क्या सीखा है ?" नारद बोले, "भगवन्, मैंने चारों वेद, गणित, दर्शन तथा ज्ञान की सारी भिन्न भिन्न शाखाओं का अध्ययन किया है।" इस पर सनत्कुमार ने कहा, "नारद ! तुमने केवल शब्दों को सीखा है। शब्दों के ज्ञान से अनुभूति नहीं मिला करती।" तदनन्तर उन्होंने नारद को उपदेश दिया कि किस प्रकार आत्मा का अनुभव प्राप्त किया जाता है। उन्होंने कहा, "परमात्मा आनन्द स्वरूप है। केवल उसी को जानकर मनुष्य आनन्दी होता है। वह भूमा है। उसी के ज्ञान से शान्ति और आनन्द मिलता है। अल्प में सुख नहीं, शान्ति नहीं।"

ऐसे लोग विरले होते हैं जो अकस्मात् सब कुछ पूरी तरह त्याग देते हैं। सहसा दृढ़ वैराग्य हो जाना बिरली घटना है। श्मशान-वैराग्य अथवा मर्कट-वैराग्य की घटनाएँ ही अधिक दिखलायी पड़ती हैं। संसार का कोई जबरदस्त आघात हुआ कि विराग प्रबल हो जाता है। पर वह क्षणिक होता है। ऐसे लोग बाद में 'कामिनी और कांचन' में अधिक आसक्त हो जाते हैं और मानवीय प्रेम में बँधकर कठपुतली के समान हो जाते हैं। तब वे लोग कहते हैं, "देखो, हमने भी आध्यात्मिकता का स्वाद चखा है। पर वह निस्सार है। उसमें कुछ नहीं रखा है। ये मानवी सम्बन्ध अधिक सार्थक हैं। हम दोनों एक

दूसरे के लिए ही बने हैं !" ऐसे उद्‌गार बकवास ही हैं और भ्रमित एवं दुर्बल मस्तिष्क के परिचायक हैं।

यदि शौक रखना ही है तो अच्छा शौक क्यों न रखो ? मरुमरीचिका के पीछे हरदम क्यों भागते फिरो? पूरी तरह दुरुस्त दिमाग वाला व्यक्ति कौन है ? —वह, जिसने आत्मानुभव कर लिया। शेष सभी तो विकृत-मस्तिष्क हैं— पागल हैं। पागल स्वयं को सही दिमाग वाला समझता है। सांसारिकता मनुष्य को पागल बना देती है। जब तक आत्मानुभूति नहीं होती तब तक पूर्ण मानसिक स्वस्थता नहीं प्राप्त होती। कौआ अपने को बड़ा चालाक समझता है पर सड़ी-गली चीजें पसन्द करता है। बहुत से चतुर समझे जाने वाले लोग वास्तव में गिद्ध के समान हैं; वे बुद्धि से तो बहुत ऊँचे उड़ते हैं पर उनकी नजर नीचे हाड़-मांस पर लगी होती है जिसका उपभोग वे करना चाहते हैं।

सारा संसार काम और कांचन की सुरा में धुत है, अज्ञान के नशे में बेहोश है। उसे उचित अनुचित का ज्ञान नहीं है। यदा-कदा कोई बिरला मिल जाता है जिसे यह सुरा पसन्द नहीं, जो कुछ बेहतर सुरा चाहता है— एक ऐसी सुरा जो संसार-सुरा के भयंकर दुष्परि-णामों को दूर कर सके। परन्तु जो व्यक्ति अपने कल्याण के लिए इस तरह प्रयत्न करता है और उच्चतर आदर्शों के अनुरूप अपने को गढ़ने में लगता है, उसका सदैव विरोध किया जाता है। अतः साधक को चाहिए कि वह

अपनी निष्ठा को और तीव्र करे, लक्ष्य की ओर बढ़ने की गति को बढ़ा दे। कभी कभी साधक अपने भीतर प्रज्वलित होने वाले वैराग्यानल से दूसरे की सहायता कर सकता है। यदि निःस्वार्थ और पवित्र भाव से ऐसी सहायता की जा सके तो वह बहुत बड़ी सेवा है।

संस्कृत में एक श्लोक है जिसका तात्पर्य है कि वह कुल और वह माता धन्य है जिसका पुत्र ईश्वर का भक्त है। पहले पहल यह ईश्वर–भक्ति विनाशकारक प्रतीत होती है। वह बहुत कुछ का विनाश करती है, भीतर के मल को और अनावश्यक क्रिया–अनुष्ठानों को नष्ट कर देती है। भले ही वह ऊपर से विनाश करने वाली दिखे, पर असल में वह परिपूर्ण बनाती है। वही प्रेम सत्य, नित्य और अपरिवर्तनशील है जो हृदय में शाश्वत के राग भरता है और असंगता को जन्म देता है। जिसके हृदय में ऐसा प्रेम है वह सबके प्रति अद्भुत सहानुभूति का भाव रखता है और सबको समदृष्टि से देखता है, भले ही ऊपर से ऐसा दिखे कि उसे किसी के प्रति प्रेम नहीं है। पवित्रता की भावना से उपजा हुआ प्रेम सदैव आध्यात्मिक होता है। जिस प्रेम में आसक्ति का लेश है वह कभी आध्यात्मिक नहीं हो सकता, भले ही वह भ्रमित आँखों के सामने बड़ा सुन्दर दिखे।

अधिकांश लोग केवल पुरानी लकीरों पर चलना चाहते हैं। वे तो केवल 'काम और कांचन' के स्थूल और सूक्ष्म भोगों की कामना करते हैं। पर जिनकी

चेतना कुछ सजग हो चुकी है वे पुरानी लकीर पर चलना पसन्द नहीं करते। जिस समय साधक में पहले पहल सजगता का अंकुर फूटता है, उसमें द्वन्द्व उठते हैं। तब वह पुरानी लकीर से भिन्न रास्ते पर चलना चाहता है। उस समय उसे चाहिए कि वह दृढ़ इच्छाशक्ति प्रकट करे, संघर्ष का साहसपूर्वक सामना करे और विजयी बन जाय। यदि वह ऐसा नहीं कर पायेगा तो आध्यात्मिक जीवन से उसे हट जाना पड़ेगा। संसार के घात-प्रतिघातों से यह चेतना जागती है। जो व्यक्ति इन घात-प्रतिघातों को सहने के लिए तैयार नहीं है, वह अध्यात्म के पथ पर आगे नहीं बढ़ सकता। जीवन में परीक्षा के जितने अधिक मौके आते हैं, साधककी। इच्छा-शक्ति उतनी ही प्रबल होती है, उसका भय उतनी ही अधिक मात्रा में दूर होता है। अतः यदि जीवन में कड़े संघर्ष आयें तो हमें उनका सामना करने के लिए तैयार रहना चाहिए।

लोगों का मन भयानक रूप से चंचल है। उनके सुख का केन्द्र अपने से बाहर है और इसीलिए वे सिनेमा और थियेटर की ओर भागते हैं, चर्च जाते हैं, भाषणों में जाते हैं, जहाँ इच्छा हुई उधर ही दौड़े जाते हैं। उनका सिद्धांत है—"विचार करने का कष्ट क्यों करें? मन को क्यों थकाएँ?" अपनी इस मानसिक प्रवृत्ति के कारण वे अधिकाधिक बहिर्मुखी बनते जाते हैं और अज्ञान के पाश में और उलझ जाते हैं। आज के अधिकांश स्त्री-

पुरुष सोचते हैं– "जब हम ईश्वर की ओर जाते हैं तो मन को विचार करके कष्ट क्यों देना ? क्यों न निद्रा जैसी मोहक स्थिति में मन को डाल दें, रोचक दिवा-- स्वप्न में मग्न रहें ? सोचना या विचार करना तो वांछित नहीं है।" देखा नहीं, आज कल अधिक लोग चर्च जाते हैं और वहाँ विचारहीन और अस्पष्ट रूप से दिये जाने वाले धार्मिक उपदेशों को सुनते हैं ? पर सच कहा जाय तो आध्यात्मिक दृष्टि से यह अर्थहीन है। ऐसे लोगों के लिए अधिक अच्छा तो यह होगा कि वे चर्च जाना बन्द कर दें और ऐसा कुछ सीखें जिससे उनकी चेतना सजग हो और वे विचार करने तथा कर्म करने में समर्थ हों।

कुछ लोग बड़े निष्ठावान होते हैं, पर वे इतने अधिक कोमल होते हैं कि अपनी निष्ठा से वे विशेष लाभ नहीं उठा पाते। आध्यात्मिक जीवन के लिए आवश्यक है कि ऐसी कोमलता और भावुकता को जड़ से नष्ट कर दिया जाय। जिसे लोग 'प्रेम' का नाम देते हैं, वह वास्तव में वासना ही है। वह मनुष्य को जकड़ लेती है। इस वासना का छेदन कोमलता या भावुकता नहीं कर सकती। इसके लिये कठोरता चाहिए। साधक को निर्मम होना चाहिए। उसे चट्टान के समान कठोर और फूल के सामान कोमल होना चाहिए। इन दो विपरीत गुणों के समुचित समन्वय से ही अध्यात्म का पथ सुगम हो पाता है।

परमहंस रामकृष्ण

प्रतापचन्द्र मजुमदार

[प्रतापचन्द्र मजुमदार केशवचन्द्र सेन के सहयोगी थे। केशवचन्द्र सेन ब्राह्मसमाज के नवविधान पंथ के प्रवर्तक थे। वे श्री रामकृष्ण के जीवन और उपदेशों से बड़े ही प्रभावित हुए थे। उन्नीसवीं शताब्दी में ब्राह्म समाज भारत में एक महत्वपूर्ण धार्मिक सुधार-आन्दोलन के रूप में सामने आया था। उसपर ईसाइयत और पाश्चात्य संस्कृति की छाप थी। उसमें देश, जाति या धर्म का कोई भेदभाव न था। केशवचन्द्र के अनुरोध पर मजुमदार ने ईसाई मत का अध्ययन किया और वे ब्राह्म समाज के कुशल उपदेशक हो गये। उन्होंने १८९३ ई० में शिकागो में भरी विश्व धर्म परिषद् में ब्राह्म धर्म का प्रतिनिधित्व किया था। इसी परिषद् में स्वामी विवेकानन्द हिन्दू धर्म के संदेश-वाहक बनकर आये थे। इस परिषद् के कई वर्ष पूर्व भी मजुमदार अमेरिका आये थे और वहां के कई प्रधान नगरों में वक्तृताएँ दी थीं।

उनका 'परमहंस रामकृष्ण' नामक प्रसिद्ध लेख, जिसका अविकल अनुवाद हम नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं, सबसे पहले भारत में प्रकाशित Theistic Quarterly Review के अक्तूबर १८७९ ई० के अंक में प्रसिद्ध हुआ था। यह लेख इसलिए और महत्वपूर्ण है कि वह किसी अनुयायी या भक्त की लेखनी से नहीं निकला है बल्कि उसका रचयिता बाहर का एक ऐसा व्यक्ति है जो दर्शक है और जिसके धर्म सम्बन्धी विचार श्री रामकृष्ण के एतद्विषयक विचारों से भिन्न हैं। उनके पर्यवेक्षणों से पता चलता है कि उनकी दृष्टि बड़ी पैनी है। यह लेख श्रीरामकृष्ण के जीवनकाल में ही एक ऐसे समय लिखा गया था जब वे उतने परिचित नहीं हुए थे। इस दृष्टि से इस लेख का महत्व और भी बढ़ जाता है।

'श्रीरामकृष्ण वचनामृत' में उस घटना का उल्लेख है जब मजुमदार कलकत्ते के समीप सुरेन्द्र के उद्यान-भवन में

श्रीरामकृष्ण से मिलने गये थे। यद्यपि यह घटना १५ जून, १८८४ ई० को यानी यह लेख लिखने के लगभग पांच वर्ष बाद घटी थी, तथापि उसका संक्षिप्त विवरण ब्राह्म उपदेशक के इस विवेचन के लिए भूमिका का काम करेगा। उन दोनों की भेंट का विवरण यह दर्शाता है कि किस प्रकार श्रीरामकृष्ण मजुमदार की बुद्धि और उनके धर्म संबंधी उत्साह के प्रशंसक थे तथा साथ ही उन्हें इस ब्राह्म नेता की सांसारिक महत्वाकांक्षा की कितनी सूक्ष्म जानकारी थी।

श्रीरामकृष्ण ने मजुमदार से पूछा कि इंग्लैण्ड और अमेरिका में उन्होंने क्या देखा। इस पर ब्राह्म उपदेशक उत्तर देते हुए बोले कि वहां लौकिक कर्म के अतिरिक्त उन्होंने विशेष और कुछ नहीं देखा। श्रीरामकृष्ण ने कहा, "केवल इंग्लैण्ड और अमेरिका में ही क्यों, कर्मासक्ति सर्वत्र दिखाई पड़ती है।" इतना कहकर वे समझाने लगे कि किस प्रकार निष्काम कर्म और ईश्वर–भक्ति के द्वारा भगवान को पाया जा सकता है। तत्पश्चात् वे मजुमदार से बोले, "मैंने सुना कि वेदी को लेकर समाज के कुछ सदस्यों से तुम्हारा विवाद हुआ है।" फिर भक्तों की ओर मुड़कर मजुमदार की प्रशंसा करते हुए श्रीराम–कृष्ण कहने लगे, "प्रताप और अमृत जैसे लोग जोरों से आवाज करने वाले बड़े शंख के समान हैं। अन्य लोग जिनकी तुम बड़ी चर्चा सुनते हो, उनसे तो कोई आवाज ही नहीं निकलती!"

तत्पश्चात् श्रीरामकृष्ण ने मजुमदार को सलाह दी कि वे लेक्चर, विवाद और झगड़ों के झमेले में न पड़ें और मन को पूरी तरह से भगवान में लगा दें। इस पर मजुमदार बोले, "जी हां, आप जो कहते हैं, निस्संदेह सत्य है। पर मैं यह जो कुछ कर रहा हूँ वह केशवजी के नाम की रक्षा के लिए ही कर रहा हूँ।" सुनकर श्रीरामकृष्ण मुस्कराये और कहा, "अभी तुम्हें ऐसा लग रहा है कि यह सब तुम केशव के लिए कर रहे हो, पर कुछ समय बाद तुम्हारा यह भाव बदल जायेगा और तुम

दूसरे ही ढंग से सोचने लगोगे।...... केशव के नाम की रक्षा की चिन्ता तुम्हें नहीं करनी चाहिए।....... ईश्वर की इच्छा से उसके कार्य का प्रसार हुआ था और ईश्वरेच्छा से ही वह कार्य नष्ट हो रहा है। तुम भला क्या कर सकते हो? तुम्हें चाहिए कि अब पूरी तरह से अपना मन भगवान को दे दो।"

दूसरे विषयों पर कुछ देर बातचीत होने के उपरान्त श्रीरामकृष्ण ने पुनः मजुमदार को तर्क-वितर्क, झगड़ों और विवादों से दूर रहने के लिए कहा। फिर उन्हें 'काम और कांचन' से सावधान रहने की सीख देते हुए कहा कि कामिनी और कांचन का मोह मनुष्य को भगवान से दूर ले जाता है। वचनामृत के संकलनकर्ता लिखते हैं कि "इसी समय प्रताप उठ खड़े हुए और श्रीरामकृष्ण से विदा ली। श्रीरामकृष्ण 'काम-कांचन' त्याग का जो उपदेश दे रहे थे उसके पूरा होते तक वे रुके नहीं।" यद्यपि प्रतापचन्द्र मजुमदार का धर्म सम्बन्धी दृष्टिकोण श्रीरामकृष्ण के दृष्टिकोण से मेल नहीं खाता था और भले ही वे श्रीरामकृष्ण को एक सूक्ष्म विवेचक की दृष्टि से देखते थे, तथापि वे श्रीरामकृष्ण के चौम्बकीय आकर्षण से केशवचन्द्र सेन के ही समान प्रभावित थे। उनका यह प्रस्तुत लेख श्रीरामकृष्ण के प्रति उनकी सुन्दर श्रद्धांजलि है।]

वह अद्भुत व्यक्ति जब भी और जहाँ भी जाता है तो अपने चारों ओर एक दिव्य ज्योति बिखेरता जाता है। मेरा मन अभी भी उस ज्योति में तैर रहा है। जब भी मेरी उनसे भेंट होती है, वे मेरे मन में एक ऐसा रहस्यपूर्ण और अवर्णनीय रस उड़ेल देते हैं जिससे मन अभी भी मोहित है। मेरे और उनके बीच कोई समानता है कहाँ? कहाँ मैं सुसभ्य, आत्मकेन्द्रित, अर्ध-नास्तिक, यूरोपियन बना हुआ और तथाकथित शिक्षित युक्तिवादी, और कहाँ वे एक अपढ़, निर्धन, ग्रामीण,

अर्ध–मूर्तिपूजक और परिचयहीन हिन्दू भक्त! मैं, जिसने डिजरायली और फासेट के भाषण सुने हैं, स्टैनली और मैक्समूलर को सुना है, समस्त यूरोपीय विद्वानों और धर्मनेताओं की वक्तृताएँ सुनी हैं, भला क्यों उनके उपदेश सुनने के लिए घंटों बैठा रहता हूँ ? मैं तो ईसा–मसीह का अनन्य शिष्य और भक्त हूँ, उदारचेता ईसाई मिशनरियों और उपदेशकों का प्रशंसक और मित्र हूँ तथा युक्तिवादी ब्राह्मसमाज का निष्ठावान अनुगामी और सेवक हूँ– भला मैं उनके वचनों को सुनकर मन्त्र-मुग्ध क्यों हो जाता हूँ ? और केवल मैं ही अकेला नहीं बल्कि मेरे जैसे दर्जनों व्यक्ति उनके पास ऐसे ही हो जाते हैं। बहुत से लोगों ने उनसे भेंट की है और बहुतों ने उन्हें परखने की भी कोशिश की है। उनके दर्शन करने तथा उनसे दो शब्द बोलने के लिए लोगों का ताँता लगा रहता है। हममें से कुछ चतुर बुद्धिवादी मूर्खों को उनमें कोई विशेषता नहीं दिखाई देती। कुछ धृष्ट ईसाई मिशनरियों ने उन्हें एक पाखण्डी अथवा आत्मविमूढ़ श्रद्धालु के रूप में देखा है। मैंने उन सबकी आपत्तियों को अच्छी तरह तौला है और अभी जो लिख रहा हूँ उसे सोच-समझकर ही लिख रहा हूँ।

यह हिंदू सन्त चालीस से भी कम उम्र के हैं। वे जाति से ब्राह्मण हैं और प्रकृति ने उन्हें सुगठित शरीर दिया है। पर लगता है कि जिन कठोर साधनाओं में से जाकर उनका चरित्र निखरा है उनके

कारण उनका स्वास्थ्य भग्न हो गया है। पर भले ही वे कृषकाय हों, उनके चेहरे पर ताजगी और परिपूर्णता की आभा है, शिशुवत् सुकोमलता और गहरी स्पष्ट विनम्रता है, एक अवर्णनीय माधुर्य की छटा है और ऐसी मुसकान है जो अपनी स्मृति में मैंने अन्य किसी व्यक्ति के अधरों पर नहीं देखी। एक हिंदू सन्त अपने बाह्य क्रिया–कलापों के प्रति सदैव सचेष्ट होता है। वह गेरुआ कपड़ा ही पहनेगा, कठोर विधि–निषेधों का पालन करते हुए भोजन करेगा, लोगों से मिलने की मनाही करेगा और वर्ण-नियमों का कट्टरता से निर्वाह करेगा। उसे सदैव अपने बड़प्पन का भान होगा और गुह्य विद्या का दावा करेगा। वह सदैव 'गुरुजी' के पद पर आसीन रहेगा, सबको उपदेश देगा और गण्डा–तावीज बाँटेगा। परन्तु यह सन्त ऐसे दावों से एक–बारगी परे हैं। उनकी वेश–भूषा और खान–पान साधारण लोगों की तरह है, अन्तर केवल इतना है कि वे इन दोनों बातों में सामान्य उपेक्षा–सी बरतते हैं। जाति या वर्ण की बातें लें तो वे तो रोज ही खुले आम उसे खण्डित करते हैं। वे अपनी सारी शक्ति से गुरु की पदवी का प्रत्याख्यान करते हैं। यदि लोग उन्हें विशेष सम्मान देने की कोशिश करते हैं तो वे तीव्र अप्रसन्नता प्रकट करते हैं और गुप्त विद्या या रहस्यों की जानकारी के दावे का जोरदार खण्डन करते हैं। कोई उन्हें बड़ा बनाने की कोशिश करे तो वे उसका

विरोध करते हैं। लोग कौतूहल वश उनके पास आयें और उनकी प्रशंसा करें यह उन्हें घोर नापसंद है। वे सावधानीपूर्वक अपने को संसारी और विषयी लोगों के सम्पर्क से दूर रखते हैं। उनके चारों ओर कोई असामान्यता या अलौकिकता नहीं है। यदि कोई बात उनकी विशेषता के पक्ष में है तो वह है उनका धर्म। उनका वह धर्म क्या है? वह है तो सनातन धर्म, पर अपने अलग ढंग का। रामकृष्ण परमहंस (क्योंकि यही उनका नाम है) किसी विशेष हिंदू देवता के उपासक नहीं हैं। वे न तो शैव हैं, न शाक्त, न वैष्णव हैं, न वेदान्ती। फिर भी वे यह सभी हैं। वे शिव की उपा- सना करते हैं, काली को पूजते हैं, राम को उपासते हैं, कृष्ण की पूजा करते हैं और साथ ही वेदान्त के सिद्धांतों के प्रबल समर्थक हैं। वे सभी सिद्धांतों और प्रथाओं को, समस्त अवतारों और महा- पुरुषों को तथा प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय की भक्तिपरक साधनाओं को स्वीकार करते हैं। इनमें से प्रत्येक उनके लिये अमोघ है। वे मूर्तिपूजक हैं तथापि 'अखण्ड सच्चिदानन्द' के नाम से अभिहित किये जाने वाले उस अरूप, अनन्त सत्य के परम निष्ठावान् पुजारी और ध्यानी हैं। अन्य साधारण हिंदू साधुओं के समान उनका धर्म न तो मतवाद से लदा है, न वह युक्ति–तर्क का प्रपंच है और न फूल–चन्दन, धूप–दीप और नैवेद्य द्वारा बाहरी पूजा है। उनके धर्म का मतलब है दिव्य आनंद,

उनकी पूजा का अर्थ है इन्द्रियातीत अन्तर्दृष्टि। उनकी समूची प्रकृति एक अनोखी श्रद्धा और भाव के निरन्तर ताप में दिवानिशि जलती रहती है। उनका वार्तालाप उनकी उसी भीतरी अग्नि का अखण्ड रूप से बाहरी प्रकाशन है और वह घण्टों चलता रहता है। भले ही उनके श्रोतागण कुछ परिश्रान्त हो जायें पर वे बाहर से नाजुक दीखते हुए भी सदैव की भाँति ताजा रहते हैं। दिन में वे बहुधा आनन्दातिरेक में डूब जाते हैं और बाहरी चेतना खो बैठते हैं। जब कभी वे वार्तालाप में अपनी प्रिय आध्यात्मिक अनुभूतियों का वर्णन करते हैं अथवा उनको उद्दीप्त करने वाली कोई बात सुनते हैं तो तुरंत वे आनन्दोल्लास में मग्न हो बाह्यचेतनाशून्य हो जाते हैं। अब प्रश्न यह है कि उनका सभी हिंदू देवी-देवताओं पर एक साथ एवंविध अटूट श्रद्धा करना कैसे सम्भव है ? उनकी इस अपूर्व उदारता का रहस्य क्या है? उनके लिए प्रत्येक देवी-देवता एक-एक शक्ति है, एक-एक तत्व का मूर्त रूप है जो उस शाश्वत और अरूप परमतत्त्व के साथ जीव के सम्बन्ध को प्रकाशित करने की चेष्टा कर रहा है। यह परमतत्त्व ज्ञानस्वरूप है, आनन्दस्वरूप है– ऐसा ज्ञान और ऐसा आनन्द जिसमें कभी परिवर्तन नहीं होता।

उदाहरण के लिये शिव को लें। यह सन्त शिव को ध्यान और योग का मूर्त विग्रह मानते हैं। समस्त सांसारिक चिंताओं को बिसारकर परब्रह्म की अकथनीय

विभूतियों के ध्यान में समाधि में डूबे हुए, दुःख और द्वन्द्वों के प्रति उदासीन, कर्मोत्तेजना और निर्जनता की सीमाओं से ऊपर उठे हुए, दिव्य एकत्व की रसात्मक अनुभूति में पगे नित्य आनन्द में निमग्न, शान्त, नीरव, सौम्य, अपने निवास हिमालय की ही भाँति निश्चल– यह देवाधिदेव महादेव का वर्णन है। वे सारे अन्तर्मुखी और ध्यानी पुरुषों के आदर्श हैं। अशुभ और विषय– भोग रूपी जहरीले साँप उनके सुशोभन रूप के चारों ओर लिपटे रहते हैं। पर उन्हें कोई हानि नहीं पहुँचा सकते। वे अपने चतुर्दिक मृत्यु के विकराल रूपों और विभीषिकाओं से घिरे रहते हैं पर उन पर कोई आँच नहीं आती। शिव अपने ऊपर संसार की सारी चिंताएँ और बोझ ले लेते हैं और दूसरों को अमृतत्व प्रदान करने के लिए स्वयं हलाहल का पान कर लेते हैं। वे दूसरों के लाभ के लिए अपनी समस्त सम्पत्ति और सुख-भोग का त्याग कर देते हैं और अलंकार के रूप में शरीर पर भस्म और व्याघ्र-चर्म मात्र को स्वीकार करते हैं। वे अपनी सहधर्मिणी को भी अपने तप और निर्जन-वास में संगी बना लेते हैं। शिव योगियों के देवता हैं। यह सन्त शिव की महिमा का वर्णन करते हुए शिव के उदात्त भाव में आविष्ट हो जाते हैं और उन्हें समाधि लग जाती है तथा उनकी बाह्य चेतना लम्बे समय तक के लिए लुप्त हो जाती है।

सम्भव है, कुछ समय बाद वे कृष्ण की बातें

करने लगें। कृष्ण उनके लिए प्रेम के विग्रह हैं। वे कहते हैं, "देखो, कृष्ण के बहुप्रचलित रूप की ओर देखो। क्या वह पुरुष के रूप के समान है ? अथवा वह नारी के रूप के समान है ? क्या उसमें इन्द्रियपरायणता का लेश भी है ? क्या रंच मात्र भी उसमें पुरुष की कठोरता दिखायी पड़ती है ? उनके चेहरे पर स्त्रियोचित सुकोमलता है, उनके रूप में किशोर के लावण्य और किशोरी के लालित्य की परिपूर्णता है। अपने बहुविध प्रेममय रूपों के कारण उन्होंने नरनारियों का हृदय भक्ति की ओर खींच लिया।" कृष्ण अपने जीवन के द्वारा इस महान् सत्य को सिद्ध करना चाहते हैं कि ईश्वरीय प्रेम प्रत्येक पवित्र मानवीय सम्बन्ध के रूप में प्रकट हो सकता है। कृष्ण, जिसने बालगोपाल के रूप से वृद्ध माता-पिता के समस्त स्नेह-स्रोत को अपनी ओर आकर्षित किया; स्नेही संगी और मित्र के रूप से पुरुषों और बन्धु-बान्धवों का गहरा विश्वास और स्नेह अर्जित किया; सम्मानित और पूजित स्वामी के रूप से जिसके उपदेशों की मधुरता और मृदुता ने, जिसकी स्नेहभरी चितवनों और मनुहारों ने किशोरियों और ललनाओं को अपने अन्तःकरण में उपजे धर्मभाव के लिए आत्मोत्सर्ग करने को अनुप्राणित किया—कृष्ण, जिसके चारित्र्य की गम्भीरता और सुन्दरता का आकलन आज तक मनुष्य की पकड़ से बाहर है, हिन्दुस्थान में प्रेमधर्म के उद्गाता हैं। फिर यह सन्त बतलाने लगते हैं कि कैसे कई वर्षों

तक उन्होंने गोप-बालक अथवा गोपी के वेश में जीवन बिताया है। और यह सब क्यों? इसीलिए कि वे धर्मभाव की वह अनुभूतियां प्राप्त कर सकें जिसमें जीवात्मा उस प्रेममय परमात्मा के लिए एक पतिपरायणा पत्नी और विश्वासपात्र मित्र के समान है। यह परमात्मा ही हमारा स्वामी और एकमात्र सुहृद है। कृष्ण भक्ति के अवतार हैं। जब यह सन्त कृष्ण की बात करने लगते हैं तो उनके सरल हृदय में भरे हुए ज्वलन्त ईश्वर-प्रेम की तीव्रता से उनका सर्वांग सहसा कड़ा और निस्पन्द होने लगता है, उन पर बेहोशी छा जाती है, उनकी आँखें दृष्टिशक्ति खो बैठती हैं और उनके स्थिर, विवर्ण किन्तु मधुर मुस्कानयुक्त चेहरे पर आँसुओं की धारा बहने लगती है। उनकी उस बेहोशी में एक इन्द्रियातीत अर्थ है, इन्द्रियागम भाव है। जब वे बाहरी चेतना खो बैठते हैं तो अपनी आत्मा में क्या देखते हैं तथा किस अनुपम आनन्द की अनुभूति करते हैं इसे भला कौन जाने? ईश्वर के प्रेम से उत्पन्न होने वाली इस मूर्छना की गहराई को भला कौन मापे? किन्तु यह तो निश्चय ही सत्य है कि जब वे बाह्य जगत् के लिए मृतवत् हो जाते हैं तो वे कुछ देखते हैं, सुनते हैं और रसास्वादन करते हैं। यदि ऐसा न होता तो उस मूर्छना के बीच कैसे उनकी आँखों में सहसा आँसू उमड़ आते हैं और ऐसे जबर्दस्त आवेग के साथ कारुण्य भरे स्वर में उनके मुख से प्रार्थना, गीत और अनमोल बोल फूटने लगते हैं जो कठोर से

कठोर हृदय को भी छू लेते हैं और उन लोगों को भी रुला देते हैं जिन्होंने धर्म के नाम पर रोना कभी न जाना था?

झट दूसरे क्षण वे काली की बातें करने लगते हैं। वे काली को माता कहकर पुकारते हैं। काली शक्ति की विग्रह है, नारी के चरित्र और स्वभाव में प्रकट होने वाली ईश्वर की शक्ति है। वह जगत् में व्याप्त नारी-तत्व है। वह असुरों का दमन करती है। वह अपने पति को भूमि पर लिटाकर उसके वक्ष पर अपना चरण रखती है। वह सबको सम्मोहित करती है, सब पर शासन करती है। तथापि वह सृष्टि की जननी है। जो उसके पास माँ कहते हुए आते हैं और उसकी शरण जाते हैं, उन सन्तानों को वह अपनी महती शक्ति के बल पर अभय प्रदान करती है। उसका मातृभाव उसके भक्तों के हृदय में वात्सल्य स्नेह के सुकोमल तन्तुओं को झनझना देता है। (बंगाल के प्रसिद्ध भक्त) रामप्रसाद सेन को अन्तःप्रेरणा से निकले हुए वात्सल्य-रसपरक जो अनुपम विलक्षण गीत हैं, वे काली की सत्यता तथा कालीपूजा की सार्थकता के असाधारण प्रमाण हैं। इस सन्त के अनुसार शक्तिपूजा का अर्थ है ईश्वर के मातृभाव के प्रति शिशु-वत् सरलता के साथ आत्मसमर्पण। नारी की शक्ति और प्रकृति में यह मातृभाव अभिव्यक्त होता है। इस-लिए हमारे इस विवेच्य महापुरुष ने नारी के भौतिक और वैषयिक रूप का सम्पूर्णतः त्याग किया है। उनकी पत्नी

है पर उससे उनका कोई दैहिक सम्बन्ध नहीं। वे कहते हैं कि पुरुष मातृज्ञान के अलावा अन्य किसी भी प्रकार नारी को नहीं जीत सकता। नारी मोह लेती है और सारे संसार को ईश्वर के प्रेम से विमुख करती है। नारी की इस अज्ञात शक्ति ने ऊँचे और पहुँचे हुए सन्तों को कामासक्त बनाकर पाप के गर्त में गिरा दिया है। हमारे इस विवेच्य सन्त के जीवन की एकमात्र महत्वाकांक्षा है-- काम पर पूरी तरह विजय पा लेना। अतएव उन्होंने अपने को नारी के प्रभाव से बचाने के लिए दीर्घकाल कठिन साधनाएँ की हैं। इसके लिए वे अपनी 'माता' से हृदयविदारक स्वर में अनुनय करते, प्रार्थनाएँ करते। और कभी-कभी तो आकुल होकर गंगा के तीर पर अपने निवास में इतने जोरों से करुण स्वर में चिल्लाने लगते कि लोगों की भीड़ उनके चारों ओर जमा हो जाती और उनका विलाप सुनकर स्वयं विलखने लगती तथा अपने समूचे हृदय से उनकी साधना की सफलता की कामना करने लगती।

जिस वैषयिक भाव से वे डरते थे उसकी आँच से अपने को दूर रखने में उन्होंने पूरी सफलता पायी है। उनकी माता—काली—ने, जिसकी वे आराधना करते थे, उन्हें यह दिखा दिया है कि प्रत्येक नारी-मूर्ति उसी का रूप है। अतएव वे प्रत्येक नारी को अपनी माता के समान श्रद्धा करते हैं। स्त्रियों तथा छोटी बालिकाओं को भी वे जमीन से सिर लगाकर प्रणाम करते हैं।

उनमें से कुछ की तो उसी प्रकार पूजा करने का उन्होंने आग्रह किया जैसे एक बालक अपनी माता की पूजा करता है। नारियों के साथ उनके सम्बन्ध की पवित्रता और उनके प्रति उनकी भावनाओं की शुचिता बेजोड़ और अत्यन्त शिक्षाप्रद है। वह यूरोप की धारणा के सर्वथा विपरीत है। वह एक ऐसा भाव है जो वास्तविक रूप से, परम्परागत रूप से और महिमामय रूप से राष्ट्रीय है। हाँ, एक हिन्दू भी नारी का समादर कर सकता है !

परमहंस कहते हैं, "मेरे पिता राम के उपासक थे। मैंने भी रामायत पन्थ को अंगीकार किया है। जब मैं अपने पिता के धर्मभाव का विचार करता हूँ तो जिन फूलों से वे अपने इष्टदेवता की पूजा करते थे वे फिर से मेरे हृदय में खिल जाते हैं और उसे दिव्य सुगन्धि से भर देते हैं।" राम सत्यव्रती और कर्तव्यपरायण पुत्र हैं, सदय और निष्ठावान पति हैं, न्यायी और पितृतुल्य शासक हैं, स्नेही और विश्वासपात्र मित्र हैं। हमारे विवेच्य सन्त राम के अनुगत सेवक हैं, राम उनके स्वामी हैं। अनुगत दास के लिए स्वामी की सेवा का अवसर प्राप्त हो जाना ही पर्याप्त पुरस्कार है; उनका प्रिय करने के लिए अपने जीवन को खपा देना उसके लिए आनन्दप्रद कर्तव्य है। ऐसे ही स्वामी राम के यह सन्त अनुगत सेवक हैं। राम उनके लिए ऐसे स्वामी हैं जो अपने सेवक के तन-मन-प्राण को पूरी तरह अपने प्रेम-

पाश में बाँध लेते हैं तथा जिनके पवित्र और महिमामय रूप का ध्यान लेन-देन की सारी बातों को बिसार देता है। राम के विख्यात सेवक हनुमान उनके लिए दास्य भाव के आदर्श हैं। हनुमान ने अपने स्वामी के कार्य के लिए जीवन अर्पित कर दिया था। अपने स्वामी के प्रति उनमें ऐसी अलौकिक प्रीति और श्रद्धा थी, ऐसा असाधारण विश्वास था जो न तो मृत्यु या ज़ोखिम की परवाह करता था, न किसी प्रतिफल की। उन्हें अपने स्वामी से किसी प्रकार के लाभ की चाह न थी। अतः इस सन्त ने जिस दूसरे पाप से अपने आपको आजीवन मुक्त रखना चाहा था वह था लोभ। पैसे को देखते ही उनमें विचित्र सिहरन पैदा हो जाती है। उनके अद्वितीय नैतिक चरित्र का रहस्य कामिनी और काँचन के वर्जन में निहित है। लम्बे अरसे तक वे एक बेजोड़ साधना करते रहे। वे एक हाथ में सुवर्ण का टुकड़ा और दूसरे में मिट्टी का ढेला ले लेते। फिर दोनों की ओर देखते तथा सुवर्ण को मिट्टी और मिट्टी को सुवर्ण कहते हुए हाथों में सोने और मिट्टी की अदला-बदली कर लेते। वे तब तक ऐसा करते रहे जब तक सुवर्ण और मिट्टी का पार्थक्य उनके मन से समाप्त न हो गया। उनकी सेवा का आदर्श है—सांसारिकता का नितान्त अभाव और लोभ से मुक्ति। वे राम से प्रेम करते हैं, उनकी सेवा करते हैं। क्यों?-इसलिए कि राम ही सर्वश्रेष्ठ और सबसे अधिक स्नेही स्वामी हैं। सच्चे सन्त की सेवा

पवित्रतम स्नेह की सेवा है, निःस्वार्थ स्वामिभक्त की सेवा है। हमारे यह सन्त जब गाते हैं तो उनके कुछ गीतों में इस मर्मस्पर्शी भक्तिभाव का प्राचुर्य होता है और वे गीत अतिशय कारुणिक होते हैं। उस समय लगता है कि हम कैसे बहुधा बड़े प्रमादी हो जाते हैं।

और उनका यह आदर-भाव केवल हिन्दू धर्म तक ही सीमित नहीं है। उन्होंने सर्वशक्तिमान अल्लाह का अनुभव करने के लिए इस्लाम मतानुसार लम्वे समय तक साधनाएँ कीं। तब उन्होंने दाढ़ी बढ़ा ली और भोजन भी मुसलमानी ढंग से करने लगे। उस समय वे कुरान की आयतों का लगातार पाठ करते रहते। ईसा के प्रति उनकी श्रद्धा गहरी और यथार्थ है। वे ईसा का नाम सुनते ही श्रद्धा से माथा झुका लेते हैं और ईसा का ईश्वर के पुत्र होने के सिद्धान्त का आदर करते हैं। सुना है कि दो-एक बार वे ईसाइयों के गिरजाघर भी हो आए। जो हो, पर इतना स्पष्ट है कि ये घटनाएँ इस महान् हिंदू सन्त के धार्मिक संस्कारों की उदारता प्रदर्शित करती हैं।

हमने ऊपर उपासना की जितनी पद्धतियों का उल्लेख किया है उनमें से प्रत्येक इस परमहंस के लिए व्यक्तिगत धर्म का जीता-जागता और अत्यन्त उत्साहपूर्ण तत्त्व है। जिन साधनाओं के माध्यम से वे अपनी वर्तमान भक्ति सम्बन्धी उदारता की स्थिति पर पहुँचे हैं वे बड़ी आश्चर्यजनक हैं। उनको प्रकाशित भी नहीं किया जा

सकता। वे कभी कुछ लिखते नहीं, क्वचित ही तर्क करते हैं, उनमें उपदेशक का भाव नहीं है; भावातिरेक में उनकी आत्मा में संचित आध्यात्मिक अनुभूतियाँ ही अनिर्बन्ध शब्दप्रवाह के रूप में झरती रहती हैं; वे अद्भुत गाते हैं और उनकी उक्तियों में अनुपम बुद्धिमत्ता परिलक्षित होती है। वे अपने अनजान में ही पौराणिक शास्त्रों के अत्यन्त दुरूह स्थलों पर विलक्षण प्रकाश डाल देते हैं और प्रचलित हिन्दू धर्म के छिपे हुए मूल तत्त्वों को बाहर प्रकट कर देते हैं, इतनी दार्शनिक स्पष्टता के साथ कि अचरज होने लगता है कि इस सीधे और अपढ़ व्यक्ति को ऐसा दर्शन का ज्ञान कैसे हुआ! उनका कहना है कि ये विभिन्न अवतार उसी एक अखण्ड सच्चिदानन्द की शक्तियाँ और लीलाएँ हैं। इस सच्चिदानन्द में कभी कोई परिवर्तन नहीं होता; वह सत्य, आलोक और आनन्द का असीम और अनन्त सागर है।

यदि उनके समस्त वचन लिपिबद्ध किए जा सकते तो उनसे एक विलक्षण और आश्चर्यजनक ज्ञान का भंडार बन जाता। यदि मनुष्यों और संसार की अन्य वस्तुओं के सम्बन्ध में प्रकट किये गये उनके सारे विचार संग्रहित हो सकते तो लोग सोचने लगते कि भविष्यवाणी करने का और बिना सिखायी एवं आदिम विद्या का युग फिर से लौट आया है।

यह सन्त शुद्ध और निष्पाप हैं तथा हिन्दू धर्म के

गाम्भीर्य और माधुर्य के जीवित प्रमाण हैं। उन्होंने इंद्रियों पर पूरी तरह विजय पा ली है। उनका सर्वांग मानो आत्मा से भरा है, धर्म की सत्यता से परिपूर्ण है, आनन्द और निश्छल पावित्र्य से ओतप्रोत है। सिद्ध हिन्दू तपस्वी के रूप में वे संसार की असारता और मिथ्यात्व के साक्षी हैं। प्रत्येक हिन्दू के अन्तःकरण को उनका यह प्रमाण मान्य है। अपने छोटे से जीवन में वे ईश्वर को छोड़कर न तो अन्य किसी का विचार करते हैं, न अन्य कोई बात। ईश्वर के अतिरिक्त उनका न अन्य कोई आत्मीय है, न मित्र। यह ईश्वर उनके लिए सब कुछ है—वे अन्य किसी की चाह ही नहीं करते। उनकी निष्कलंक पवित्रता, उनकी गहरी अवर्णनीय धन्यता और आनन्द, उनका बिना पढ़ा अन्तहीन ज्ञान, समस्त मानवों के प्रति उनका शिशुवत् स्नेह और निर्द्वन्द्व भाव तथा ईश्वर के प्रति उनका सर्वग्राही और सर्वशोषी प्रेम-यही उनके लिए ईश्वर का प्रतिदान है। और ईश्वर करे, उन्हें यह प्रतिदान लम्बे समय तक प्राप्त होता रहे ! हमारा धर्म सम्बन्धी अपना आदर्श उनके आदर्श से भिन्न है, तथापि जबतक वे हमारे बीच हैं, हम आनन्द पूर्वक उनके चरणों-तले बैठेंगे और उनसे पवित्रता, असांसारिकता, अध्यात्म और ईश्वर-प्रेम में बेहोशी के उदात्त तत्वों को सीखेंगे।

—'वेदान्त एंड दी वेस्ट' से साभार

●

स्वामी अद्वैतानन्द

डा. नरेन्द्र देव वर्मा

जिस समय श्रीरामकृष्णदेव गले की व्याधि से पीड़ित होकर आरोग्य-लाभ के लिए काशीपुर उद्यान में निवास कर रहे थे उसी बीच एक विलक्षण घटना घटी। काशीपुर उद्यान में श्रीरामकृष्ण देव के भक्त-शिष्य तन-मन से अपने गुरुदेव की सेवा में लगे हुए थे तथा उन्हें युगावतार के देवदुर्लभ साहचर्य से आध्यात्मिक अनुभूतियाँ भी प्राप्त हो रही थीं। एक दिन उनके शिष्य नरेन्द्रनाथ जो कालान्तर में स्वामी विवेकानन्द के नाम से जगत्प्रसिद्ध हुए, ध्यान करने के लिए बैठे। धीरे-धीरे उनका मन जागतिक सीमाओं से ऊपर उठने लगा और थोड़ी ही देर में वे गहन समाधि की दशा में पहुँच गए। यह आध्यात्मिकता का अंतिम सोपान था, यह निर्विकल्प समाधि की अवस्था थी जो अद्वैत वेदान्त की साधना का चरम लक्ष्य है। दक्षिणेश्वर के महान सन्त ने इच्छामात्र से नरेन्द्रनाथ को इस महत्तम अनुभूति का आस्वाद करा दिया। इस अवस्था में नरेन्द्रनाथ देह-भान खो बैठे। उनका शरीर निस्पन्द हो गया। शरीर में प्राण की समस्त क्रियाएं रुक गईं। जब श्रीरामकृष्णदेव के एक अन्य भक्त-शिष्य गोपाल-दा ने नरेन्द्रनाथ को इस स्थिति में देखा तो वे अत्यन्त भयभीत हो गए। वे दौड़ते हुए

श्रीरामकृष्णदेव के पास पहुंचे और उन्हें घबराई हुई आवाज में बताया कि नरेन्द्रनाथ मर गए हैं।

भगवान् श्रीरामकृष्णदेव अन्तर्यामी थे। वे सहज ही यह जान गए कि नरेन्द्रनाथ को निर्विकल्प समाधि की प्राप्ति हुई है। उन्होंने गोपाल-दा को आश्वस्त करते हुए कहा, "नहीं रे, यह कोई चिन्ता की बात नहीं है। इसी के लिए वह इतने दिनों से मुझसे जिद कर रहा था।"

श्रीरामकृष्णदेव के लीला-संवरण के उपरान्त जब स्वामी शिवानन्द ने वराहनगर मठ की स्थापना की तब गोपाल-दा सबसे पहले मठ में सम्मिलित हुए। ये ही गोपाल-दा कालान्तर में स्वामी अद्वैतानन्द के नाम से विख्यात हुए।

स्वामी अद्वैतानन्द का पूर्व नाम गोपालचन्द्र घोष था। उनका जन्म चौबीस परगना जिले के जगद्दल नामक गाँव में हुआ था। उनके पिता श्रीयुत् गोवर्धन घोष थे। गोपालचन्द्र का पालन-पोषण कलकत्ता के निकट सिन्थी में हुआ था। सिन्थी के ही वेणी पाल ने कलकत्ता के चाइना बाजार में अपनी दूकान खोली थी। बड़े होने पर गोपालचन्द्र उसी दूकान में काम करने लगे। वेणी पाल कट्टर ब्राह्म समाजी थे तथा अपने घर में प्रार्थना-सभा का आयोजन करते रहते थे। सम्भवत: इन्हीं सभाओं में गोपालचन्द्र ने युगावतार श्रीरामकृष्णदेव का दर्शन किया था।

गोपालचन्द्र विवाहित थे। किन्तु पत्नी के देहावसान से उन्हें बड़ा आघात लगा और वे व्याकुल हो गए। उनकी दुःखपूर्ण मनःस्थिति को देखकर उनके एक मित्र ने उन्हें दक्षिणेश्वर के संत श्रीरामकृष्णदेव का दर्शन करने की सलाह दी। गोपालचन्द्र असह्य मनस्ताप से मुक्त होना चाहते थे। वे दक्षिणेश्वर गए और श्रीरामकृष्णदेव से मिले। पर पहली बार गोपालचन्द्र उनसे प्रभावित नहीं हो सके। जब उनके मित्र को यह बात मालूम हुई तब उन्होंने गोपालचन्द्र को बार-बार दक्षिणेश्वर जाने की सलाह दी और कहा कि पहुँचे हुए लोग शीघ्र ही अपने आप को प्रकट नहीं करते। यह सुनकर गोपालचन्द्र नियमित रूप से दक्षिणेश्वर जाने लगे।

धीरे-धीरे श्रीरामकृष्णदेव से गोपालचन्द्र का परिचय घनिष्ठ आत्मीयता में बदल गया। गोपालचन्द्र ने यह अनुभव किया कि वे सिर से पैर तक इस महापुरुष के स्वर्गिक प्रेम-पारावार में डूब गए हैं। श्रीरामकृष्णदेव ईश्वरीय प्रेम की साकार प्रतिमा थे। उनके पुनीत साहचर्य में गोपालचन्द्र के मन का सारा विषाद जाता रहा। युगावतार के चरणों के समीप बैठकर उन्होंने यह सीख लिया कि यह संसार मिथ्या और असार है तथा मानव-जीवन का सर्वोच्च पुरुषार्थ ईश्वर-लाभ है। क्रमशः उनमें वैराग्य बढ़ता गया और अन्त में उन्होंने संसार को पूरी तरह से त्याग कर अपने-आपको श्रीरामकृष्णदेव की सेवा में लगा दिया।

गोपालचन्द्र आयु में अपने गुरुभाइयों से ही नहीं अपितु श्रीरामकृष्णदेव से भी दो-तीन वर्ष बड़े थे। श्रीरामकृष्णदेव उन्हें 'बड़ा गोपाल' कहते थे और अन्य भक्त गण उन्हें सम्मानपूर्वक 'गोपाल-दा' कहा करते थे।

गोपाल-दा स्वच्छता और व्यवस्था की प्रतिमूर्ति थे। उनका जीवन पूरी तरह से नियमित और व्यवस्थित था। श्रीरामकृष्णदेव गोपाल-दा के इन गुणों की बड़ी प्रशंसा करते थे। इसके अतिरिक्त श्री माँ सारदा देवी के प्रति भी गोपाल-दा की अपार श्रद्धा भक्ति थी। लज्जाशीला श्री माँ गोपाल-दा और श्रीरामकृष्णदेव के कुछ ही बाल-भक्तों से बातें करती थीं। इसलिए गोपाल-दा सदैव श्री माँ की सेवा के लिए तत्पर रहा करते थे।

एक दिन गोपाल-दा ने श्रीरामकृष्णदेव से कहा कि वे संन्यासियों को गेरुआ वस्त्र और माला प्रदान करना चाहते हैं। तब श्रीरामकृष्ण देव ने अपने बाल-भक्तों की ओर संकेत करते हुए कहा, "तुम इन लड़कों से अधिक योग्य संन्यासी और कहाँ पाओगे ? तुम इन्हीं लोगों को वस्त्र और माला दे दो।" यह सुनकर गोपाल-दा ने गेरुए वस्त्रों की पोटली और मालाओं को उनके सामने रख दिया और अपने हाथ से उन्हें बाँटने के लिए कहा। तब श्रीरामकृष्णदेव ने नरेन्द्र, राखाल, बाबूराम, निरंजन, योगीन, तारक, लाटू, काली, शरत, शशि और गोपाल-दा को वस्त्र प्रदान किया और इस प्रकार श्रीरामकृष्ण

संघ का बीजारोपण हो गया ।

श्रीरामकृष्णदेव के देह त्याग के पश्चात् गोपाल-दा कुछ वर्षों तक वराहनगर मठ में ही रहे । इसके बाद वे तपस्या करने के लिए काशी चले आए । काशी में उन्होंने लगभग पाँच वर्ष तक कठिन तपश्चर्या की । जिन लोगों ने स्वामी अद्वैतानन्द जी की इस कठिन साधना को देखा था वे उनकी नियमितता को देखकर आश्चर्यचकित हो गए थे । काशी में कड़कड़ाती ठंड के समय भी स्वामी अद्वैतानन्द ब्राह्ममुहूर्त में उठकर गंगा-स्नान करने के लिए जाया करते थे । लौटते समय यद्यपि उनका शरीर शीत से काँपता रहता, पर उनके मुख से निरन्तर संस्कृत के श्लोकों का उच्चारण होता रहता था । बनारस में वे भिक्षा के द्वारा अपना निर्वाह करते थे । भगवान् विश्वनाथ के मन्दिर के समीप ही उन्होंने एक कमरा ले रखा था । उस कमरे में प्रत्येक वस्तु यथास्थान रखी हुई थी । बनारस के शोरगुल से भरे मुहल्ले में रहते हुए भी स्वामी अद्वैतानन्द जी की साधना बिना किसी व्याघात के चलती रही ।

जब स्वामी विवेकानन्द पश्चिमी देशों में वेदान्त का प्रचार कर भारत लौटे तब उन्होंने कलकत्ता के आलमवाजार में श्रीरामकृष्ण मठ की स्थापना की । स्वामीजी चाहते थे कि उनके गुरु-भाई अलग अलग भ्रमण करने के बदले एक स्थान पर रहें । इससे श्रीरामकृष्णदेव के संदेश का अधिक प्रचार होगा ।

म्वामी विवेकानन्द ने अपने सभी गुरु-भाइयों से कलकत्ता आने का अनुरोध किया। उनके आह्वान पर स्वामी अद्वैतानन्द भी बनारस से लौट आए। इसके बाद वे मठ में ही रहे। मठ में उन्हें बगीचे की देखरेख और मठ की व्यवस्था का कार्य सौंपा गया। वे व्यवस्थित और पूर्ण रुप से कार्य को करना और कराना चाहते थे। छोटी सी भूल भी अद्वैतानन्दजी की आंखों से ओझल नहीं रह पाती थी। भूल को वे लापरवाही का फल ममझते थे। यही कारण था कि मठ के ब्रम्हचारियों को वहुधा उनकी झिड़की सुननी पड़ती थी। किन्तु वे जानते थे कि स्वामी अद्वैतानन्द की ताड़ना उनके प्रेम का ही प्रतीक है। कालान्तर में स्वामी अद्वैतानन्दजी ने दूसरों के अवगुणों को देखना छोड़ दिया था। वे कहा करते थे, "ठाकुर ने मुझे दिखा दिया है कि प्रत्येक वस्तु में ईश्वर ही व्याप्त हैं। फिर किसकी निंदा की जाए और किसकी आलोचना करें?"

वृद्धावस्था में भी स्वामी अद्वैतानन्द काफी सशक्त थे और उन्हें अपने किसी भी काम के लिए सहायक की आवश्यकता नहीं होती थी। सभी गुरु-भाइयों से बड़े होने के कारण वे सभी के श्रद्धाभाजन थे। कभी-कभी उन्हें प्रेमपूर्ण हास्य का अवलम्ब भी बनाया जाता था। स्वामी विवेकानन्द उनसे अत्यधिक प्रेम करते थे और उन्हें चिढ़ाकर आनन्द लिया करते थे। एक बार स्वामी विवेकानन्द ने उन्हें चिढ़ाने के लिए एक हास्यपूर्ण

कविता की रचना भी की थी।

स्वामी अद्वैतानन्द अपने जीवन को श्रीरामकृष्णदेव के संदेशों के अनुरुप ढालना चाहते थे। कभी-कभी उन्हें इस बात से निराशा होने लगती थी कि उन्हें उद्देश्य की सिद्धि में विलम्ब हो रहा है। यह निराशा उनकी उच्च मन:स्थिति और गहरी आध्यात्मिकता की ही परिचायक थी। वे वृद्धावस्था के कारण लोकोपकार के कार्यों में अधिक योगदान नहीं कर सके थे किन्तु उनका जीवन तपोमय हो गया था। अपने जीवन के अंतिम दिनों तक वे नियमित रूप से आध्यात्मिक साधनाओं में लगे रहे। उनका तपोनिष्ठ जीवन अनेकानेक व्यक्तियों के लिए प्रेरणा का स्त्रोत बन गया था। उनके गुरुभाई उनकी अनुपम वैराग्य-भावना और अद्भुत निष्ठा को देखकर उन पर असीम श्रद्धा रखते थे। श्रीरामकृष्णदेव ने बताया था कि हँसी के लिए भी सत्य से खिलवाड़ नहीं करनी चाहिए। स्वामी अद्वैतानन्द ने इस भरत-वाक्य को अपने जीवन में उतार लिया था और अन्य लोगों से भी वे इसका पालन कराना चाहते थे।

उन्होंने चारों धाम की यात्रा की थी और भारत के समस्त प्रसिद्ध तीर्थों के दर्शन किये थे। वे जीवन के अंतिम दिनों तक स्वस्थ और सशक्त बने रहे। अंत-अंत में वे उदर-रोग से पीड़ित थे तथा २८ दिसम्बर सन् १९०९ को उन्होंने अपनी पार्थिव देह का त्याग

कर दिया। यद्यपि स्वामी अद्वैतानन्द जी का जीवन घटनाबहुल नहीं है किन्तु वह गत्यात्मक आध्यात्मिकता का जीवन है जिससे सैकड़ों लोगों को उत्साह और प्रेरणा मिली है।

●

भोगे रोग भयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद् भयं,
माने दैन्यभयं बले रिपु भयं रूपे जराया भयम्।
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयं,
सर्वं वस्तु भयावहं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्॥

— भर्तृहरि

भोगों में रोग का भय है, ऊँचे कुल में पतन का भय है, धन में राजा का, मान में दीनता का, बल में शत्रु का तथा रूप में वृद्धावस्था का भय है और शास्त्र में वाद-विवाद का, गुण में दुष्टजनों का तथा शरीर में काल का भय है। इस प्रकार संसार में मनुष्यों के लिए सभी वस्तुएँ भयपूर्ण हैं, भय से रहित तो केवल वैराग्य ही है।

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद्‌चन्द्र पेंढारकर

१) जैसी मनःस्थिति, वैसी दृष्टि

स्वामी रामदास 'रामायण' लिखते जाते और अपने शिष्यों को सुनाया करते थे। हनुमानजी को जब यह बात मालूम हुई, तो वे भी गुप्त रूप से राम-कथा का श्रवण करने के लिए शिष्यों के मध्य आकर बैठ जाते थे। स्वामी रामदास ने अशोक-वाटिका के प्रसंग में जब यह वाक्य लिखा– "हनुमान अशोक-वन में गये, तो वहाँ उन्हें सफेद फूल दिखाई दिये," तब हनुमानजी को आश्चर्य हुआ, क्योंकि उन्हें तो वहाँ लाल रंग के फूल दिखाई दिये थे। आखिर हनुमानजी से न रहा गया। वे अपने असली रूप में प्रकट हो गये और रामदास से बोले, "मैंने सफेद नहीं, लाल फूल देखे थे। उसे कृपया सुधार लें।"

किंतु रामदास न माने। वे बोले कि उन्होंने ठीक ही लिखा है। हनुमानजी बोले, "मैं स्वयं वहां गया हुआ था, अतः आपको मेरी बात माननी ही चाहिए।" तब रामदास ने सही बात मालूम करने के लिए प्रभु रामचन्द्र के पास चलने को कहा। दोनों ने प्रभु रामचन्द्र जी के पास जाकर अपना-अपना पक्ष रखा। रामचन्द्रजी ने बताया कि रामदासजी ने सही ही लिखा है। किंतु हनुमानजी को बात जँची नहीं। तब रामचन्द्रजी ने

खुलासा किया कि फूल वास्तव में सफेद थे, किंतु हनुमानजी के उस समय क्रोधित होने के कारण उनकी आँखें क्रोध से लाल थीं, फलस्वरूप वे सफेद फूल उन्हें रक्त वर्ण के दिखाई दिये।

२) संयम की शक्ति

महाभारत लिखने के लिए व्यासजी को किसी व्यक्ति की तलाश हुई। इसके लिए उन्होंने गणेशजी को चुना। कार्य आरंभ हो गया। व्यासजी बोलते गये और गणेशजी लिखते गये। महाभारत पूरा हुआ, तो व्यासजी ने गणेशजी से कहा, "महाभाग ! मैंने चौबीस लाख शब्द बोलकर आपसे लिखवाये, किंतु आश्चर्य है कि इसके बीच आप एक शब्द भी न बोले, चुपचाप लिखते रहे।" इसपर गणेशजी ने उत्तर दिया, "बादरायण ! बड़े काम संपन्न करने के लिए शक्ति चाहिए और शक्ति का आधार है संयम। संयम ही समस्त सिद्धियों का प्रदाता है। यदि मैंने वाणी का संयम न रखा होता, तो यह ग्रंथ कैसे तैयार हुआ होता ?"

३) स्नेह और सौम्यता

अपने परम तेजस्वी, तमतमाते हुए रक्तवर्ण मुखारविन्द के साथ जब सूर्यदेव घर पहुँचे, तो उनकी पत्नी संज्ञा ने आँखें बंद कर लीं। कुपित होकर सूर्यदेव बोले, "क्यों ? तुम्हें मेरा तेजस्वी रूप रुचता नहीं ?" संज्ञा की आँखें और भी नीची हो गईं। उसने बादलों के घूँघट में अपने कोमल मुख को ढँक लिया। यह अभद्रता

सूर्यदेव को और भी अखरी और वे लाल-पीला होकर अपना दर्प दिखाने लगे। बेचारी संज्ञा भयभीत होकर अपने पितृगृह कुरुप्रदेश चली गई और तपस्या में लीन हो गई।

सूर्यदेव अपनी पत्नी के बिना उदास रहने लगे। वे एक योगी का रूप धारण कर संज्ञा के पास पहुँचे और उन्होंने उससे तपस्या का प्रयोजन पूछा। वह तपस्विनी बोली "हे तात ! मेरे पति और भी अधिक तेजस्वी हों, पर उनका स्वभाव इतना सरल हो कि मैं अपलक उनके दर्शन कर सकूँ।" यह सुन सूर्यदेव द्रवित हो गये। दर्प की प्रचंडता को व्यर्थ मानते हुए उन्होंने अपनी सोलह कलाओं में से एक के साथ ही प्रकाशित होना आरंभ कर दिया। तब संज्ञा घर लौटी और सूर्यदेव को सौम्य पाकर उनसे बोली, " नाथ ! वैभव कितना ही क्यों न हो, स्नेह तो सौम्यता ही ढूँढ़ेगा और उसीमें तृप्ति मानेगा !"

४) काल करै, सो आज कर

एक दिन दरबार खत्म होने पर युधिष्ठिर अपने भाइयों तथा पत्नी द्रौपदी के साथ आपस में वार्तालाप कर रहे थे कि द्वारपाल ने आकर सूचना दी कि कोई दो अतिथि युधिष्ठिर से मिलना चाहते हैं। युधिष्ठिर ने द्वारपाल से उन्हें दूसरे दिन आने कहा। यह देख भीम वहाँ से उठकर चले गये और राजमहल के पास लगे विशाल घंटे को बजाने लगे। किसी को कोई आश्चर्यजनक बात दिखाई दे, तभी यह घंटा बजाया

जाता था ।

भीम स्वयं विशाल काया वाले और घंटा भी विशाल आकार का और भीम उसे जोर-जोर से बजा रहे थे । कर्कश आवाज से सबके कान दहल गये । तब युधिष्ठिर ने भीम से घंटा बजाने का कारण पूछा । इस पर भीम वहाँ आये हुए नागरिकों को संबोधित कर बोले, "ऐ प्रजाजनो, हमारे राजा तो यमराज से भी श्रेष्ठ हो गये हैं !"

"क्या कह रहे हो, भीम ? साफ-साफ क्यों नहीं कहते ?" भीम ने उत्तर दिया, "महाराज, अभी-अभी आपने दो अतिथियों को कल आने के लिए कहा है । इसका यह अर्थ हुआ कि आपको पूरा विश्वास है कि आप कल तक जीवित रहेंगे । जबकि वास्तविकता यह है कि मनुष्य को बिलकुल भरोसा नहीं कि दूसरे दिन क्या घटित होने वाला है । आपका उन्हें कल बुलाना यह सूचित करता है कि आप अवश्य ही कल इस भूतल पर रहेंगे ।"

धर्मराज को अपनी गलती महसूस हुई । उन्होंने उसी समय उन दोनों अतिथियों को बुलाकर उनसे भेंट की ।

५) घर का ब्राह्मण बैल बराबर

एक बार गोस्वामी तुलसीदासजी काशी में विद्वानों के मध्य बैठकर भगवत्-चर्चा कर रहे थे कि दो देहाती कौतूहलवश वहाँ आ गये । वे दोनों गोस्वामीजी के ही

ग्राम के थे और गंगास्नान करने काशी आये हुए थे। दोनों ने तुलसीदासजी को पहिचाना और उनमें से एक, दूसरे व्यक्ति से बोला, "अरे भैया, यह तुलसिया अपने संग खेला करता था। आज तिलक लगा लिया तो इसकी काफी पूछताछ हो रही है।" दूसरे ने भी हामी भरते हुए कहा, "हां भैया, यह तो पक्का बहुरुपिया है। कैसा ढोंग कर रहा है यह।"

तुलसीदासजी ने उन्हें देखा, तो वे उनके पास चले आये। तब उनमें से एक बोला, "अरे तुलसिया, तूने यह क्या भेस बना रक्खा है। तू सबको धोखे में डाल सकता है, पर हम लोग तेरे धोखे में नहीं आएँगे।"

तुलसीदासजी उन दोनों के गँवारपन पर मन ही मन मुस्करा उठे और उनके मुँह से यह दोहा निकला–

तुलसी वहाँ न जाइए, जन्मभूमि के ठाम।
गुण-अवगुण चीन्हें नहीं, लेत पुरानो नाम।।

उन्होंने जब दोनों को इस दोहे का अर्थ समझाया, तब कहीं उन्हें विश्वास हुआ कि 'तुलसिया' कोई महात्मा बन गया है।

६) प्रेम की परीक्षा

देवर्षि नारद खीझ-से गये थे, तीनों लोकों में राधा की स्तुति जो हो रही थी। वे स्वयं भी कृष्ण से कितना प्रेम करते हैं। इसी मानसिक संताप को मन में छिपाये वे कृष्ण के पास पहुँचे, तो उन्होंने देखा कि

कृष्ण भयंकर सिरदर्द से कराह रहे हैं। देवर्षि के हृदय में टीस उठी। पूछा, "भगवन् ! क्या इस वेदना का कोई उपचार नहीं? क्या मेरे हृदय के रक्त से यह शांत नहीं हो सकती ?" कृष्ण ने उत्तर दिया, "मुझे रक्त की आवश्यकता नहीं। यदि मेरा कोई भक्त अपना चरणोदक पिला दे, तो यह वेदना शान्त हो सकती है। यदि रुक्मिणी अपना चरणोदक पिला दे, तो शायद लाभ हो सकता है।"

नारद ने मन में सोचा—"भक्त का चरणोदक भगवान् के श्रीमुख में !" आखिर रुक्मिणी के पास जाकर सारा हाल कह सुनाया। रुक्मिणी भी बोली, "नहीं,नहीं ! देवर्षि, मैं यह पाप नहीं कर सकती।" नारद ने लौटकर रुक्मिणी की असहमति कृष्ण के पास व्यक्त कर दी। तब कृष्ण ने उन्हें राधा के पास भेजा। राधा ने जो सुना, तो तत्क्षण एक पात्र में जल लाकर उसमें अपने दोनों पैर डुबो दिये और नारद से बोली, "देवर्षि, इसे तत्काल कृष्ण के पास ले जाइये। मैं जानती हूँ, इससे मुझे रौरव नर्क मिलेगा, किंतु अपने प्रियतम के सुख के लिए मैं अनंत युगों तक यातना भोगने को प्रस्तुत हूँ।"

और देवर्षि समझ गये कि तीनों लोकों में राधा के ही प्रेम की स्तुति क्यों हो रही है।

मन्सूर हल्लाज

डा. अशोक कुमार बोरदिया

"साहसी जो चाहता है दुःख, मिल जाना मरण से,
नाश की गति नाचता है, माँ उसी के पास आयी।"
—स्वामी विवेकानन्द

(१)

"अनल हक, अनल हक, अनल हक," इस गगन-भेदी गंभीर वाणी से सारा वातावरण गूँज उठा। लाखों लोगों के उपस्थित होते हुए भी वहाँ एक विचित्र सन्नाटा व्याप्त था। लोग आज उस दृश्य को देखने के लिये एकत्रित हुए थे जिसके बारे में कई दिनों से चर्चाएँ सुन रहे थे। उनमें से कुछ दुखी थे, तो कुछ ने होने वाली इस घटना को सौभाग्यपूर्ण समझा था।

"अनल हक" (मैं ही सत्य हूँ) की असाधारण आवाज को सुन कर जब उपस्थित जन-समुदाय ने उस ओर दृष्टि फेरी तो देखा सिपाहियों से घिरे, जंजीरों से जकड़े हुए हुसैन-बिन-मंसूर को। सत्य की अनुभूति से उनका चेहरा दमक रहा था। सिपाही उनके कृषकाय शरीर को, जिस पर कोड़ों के तथा कारागृह में दी गई शारीरिक यातनाओं के निशान थे, सूली पर चढ़ाने के लिये ले जा रहे थे। देह की अत्यधिक दुर्दशा होने पर भी उनके मुखमंडल पर एक दैवी आनन्द झलक

रहा था। पास खड़ा एक दर्शक उनकी इस खुशी का कारण बिना पूछे न रह सका। वे बोले, "हम निज निकेतन की ओर जा रहे हैं इसी से इतने प्रसन्न हैं!"

एकाएक भीड़ को चीरता हुआ एक सूफी दरवेश उनके सामने आया और पूछ बैठा, "इश्क क्या है?" मसूर ने उत्तर दिया, "आज देखेगा, कल देखेगा, और परसों देखेगा।" और उस फकीर के साथ साथ सभी ने देखा, उस दिन उनका सूली पर चढ़ना, दूसरे दिन उनके शरीर का जलाया जाना, और तीसरे दिन उनकी राख का हवा में उड़ाया जाना। परमेश्वर के लिये मर मिटने का ही नाम इश्क है।

(२)

अद्वैत वेदान्त की चरम अवस्था "अहं ब्रह्मास्मि" का प्रत्यक्ष अनुभव करने वाले और ईसा के समान सूली पर चढ़ने वाले तथा उन्हीं की तरह " प्रभु, उन्हें माफ कर दे, क्योंकि वे नहीं जानते कि वे क्या कर रहे हैं" कहने वाले महान् सूफी संत हुसैन का जन्म फारस के एक मुसलमान परिवार में सन ८५८ ई. में हुआ था। इनके पिता का नाम मंसूर था पर ये स्वयं भी इसी नाम से विख्यात हैं। एक बार काबा से लौटते समय रुई के एक ढेर को इन्होंने इशारे से धुनक कर साफ कर दिया था। इसी से आप प्रायः 'हल्लाज' के नाम से भी संबोधित होते हैं।

अठारह वर्ष की आयु में हुसैन अपने घर से निकल

कर तस्तर नगर में आये और अब्दुल्ला नामक सन्त के शिष्य रहे । तत्पश्चात् उमर-बिन-उसमान-मक्की नामक सन्त के साथ अठारह महीने रहे और फिर जुनैद की सलाह पर एकान्तवास और मौन साधना की । निडर और स्पष्टवादी होने के कारण इनका निर्वाह अपने इन तीनों मार्गदर्शकों के साथ न हो सका और अन्त में वे तस्तर लौट आये । उनकी प्रतिभा के कारण लोग उनकी ओर आकृष्ट तो होते तथा सम्मान भी प्रदान करते, किन्तु बहुत स्वाधीन प्रकृति के होने के कारण उनके कई शत्रु भी पैदा हो जाते थे । अब्दुल्ला तस्तरी ने उनके विरुद्ध तस्तर-वासियों को कई अनर्गल बातें कहीं, और जुनैद बगदादी ने एक प्रश्न के उत्तर में उनसे कहा कि वे शीघ्र ही सूली पर चढ़ेंगे । इन सब बातों से क्षुब्ध हो वे तस्तर छोड़ कर पाँच वर्षों तक भटकते रहे । तत्पश्चात् धर्मप्रचारक के रूप में भारत, चीन, रूसी तुर्किस्तान आदि देशों का भ्रमण किया । लौटकर पवित्र मक्का गये और वहाँ दो वर्ष तक तपस्या की । एक साल तक केवल छोटी सी तहमत (लुंगी) लपेटे धूप में बिना हिले-डुले खड़े रहे । जो एक कटोरा पानी दिया जाता केवल वही पीते और दी जाने वाली एक रोटी की केवल कोर खाकर बाकी छोड़ देते । कहा जाता है कि इस समय उनकी तहमत में एक बिच्छू ने बिल बना लिया था ।

कहते हैं कि उन्होंने पचास वर्षों तक चार सौ नमाजें

रोज पढ़ीं और प्रत्येक नमाज़ के पहले स्नान किया। बीस वर्षों तक उन्होंने बदन पर एक ही कपड़े को बिना बदले धारण किया। एक बिच्छू बारह वर्ष तक उनके साथ मित्र की तरह रहा। वह उनके इर्दगिर्द चक्कर लगाता रहता। न तो मंसूर ने उसे मारा और न बिच्छू ने उन्हें डंक मारा।

मंसूर का जीवन प्राचीन काल के अन्य सन्तों के ही समान रोचक चमत्कारों से ओतप्रोत है। एक बार वे चार सौ सूफियों के साथ जंगल से जा रहे थे। सभी चार दिन से भूखे थे। सबने मंसूर से प्रार्थना की कि वे खाने का कुछ प्रबन्ध करें। मंसूर ने सबको कतार में बैठने का आदेश दिया। फिर वे खुद अपने हाथ पीछे ले जाते और मुँहमाँगा पकवान प्रत्येक के सामने रखते जाते। इसी प्रकार साथियों को खज़ूर खाने की इच्छा होने पर उन्होंने कहा कि मुझे पेड़ की तरह झड़ा दो। बस खजूरों का ढेर लग गया। एक बार अंजीर खिलाई और दूसरी बार जंगल में बगदादी हलुआ। कहा जाता है कि जिस दिन उन्होंने अपने साथियों के सम्मुख हलुआ प्रस्तुत किया, उस दिन बगदाद के एक हलवाई की दुकान से हलुए का बर्तन गायब हो गया। बाद में कारण ज्ञात होने पर हलवाई इनका भक्त बन गया।

जब मंसूर को कैद किया गया, तब पहले दिन ही वे कारागृह से गायब हो गये। दूसरे दिन कैदखाने

सहित अदृश्य थे। तीसरे दिन मौजूद थे। कारण पूछने पर बताया कि पहले दिन हुजूर (ईश्वर) से मिलने गया था। दूसरे दिन हुजूर खुद यहाँ आये थे इसीलिए तुम लोग नहीं देख सके। जेल में बन्द तीन सौ कैदियों की वेड़ियों को एक इशारे से तोड़कर और जेलखाने में खिड़कियाँ बनाकर उन्होंने उन सबको आजाद कर दिया।

(३)

मंसूर हल्लाज को सूली पर चढ़ाये जाने की गाथा लम्बी और मार्मिक है। वह उनकी उच्च आध्यात्मिक अवस्था की द्योतक होने के साथ ही साथ शिक्षाप्रद भी है।

दूसरी बार जब वे मक्का से तपस्या करके लौटे तब वे एक दूसरे ही व्यक्ति थे। ईश्वर-प्राप्ति की तीव्रता और उसके बाद के अनुभव ने उन्हें दीवाना बना दिया था। उनकी बातें लोगों की समझ में नहीं आती थीं और उन्हें पागल, काफिर और मार्गभ्रष्ट समझकर कई शहरों से निकाला गया। जब वे 'अनलहक' (मैं ही भगवान हूँ) कहने लगे, तब तो चारों ओर हंगामा-सा मचने लगा, क्योंकि यह बात प्रचलित इस्लाम धर्म के विपरीत है। इस्लाम ईश्वर को अद्वितीय मानता है। कुछ सन्त इनकी प्रतिभा एवं भक्ति की तीव्रता को देखकर ईर्ष्या करने लगे और उन्होंने खलीफा से शिकायत की कि मंसूर के उपदेश समाज को भड़काने वाले हैं तथा उनको सुनने पर लोग शरीअत (हजरत मुहम्मद द्वारा

निर्दिष्ट शास्त्रोक्त इस्लाम मार्ग) से च्युत हो जायेंगे। कुछ लोग इनकी तारीफ भी करते थे। अन्त में धर्म के ज्ञाता विद्वानों ने 'अनलहक' कहने के कारण उन्हें कैद करके सूली पर चढ़ाने का आदेश दिया। उन्हें माफी माँगने को कहा गया, पर उन्होंने उल्टे उन्हीं लोगों से माफी माँगने को कहा।

जेल में भी लोग इनके हाल पूछने आते और उपदेश सुनकर लौट जाते। कैदखाने में वे रोज एक हजार नमाज पढ़ते। लोगों ने जब पूछा कि आप ही जब भगवान हैं तो फिर नमाज किसको पढ़ते हैं ? तो उत्तर दिया, "हम ही खूब जानते हैं कदर अपनी" (याने इस राज को तुम लोग नहीं समझ सकते)। कैदियों को रिहा करने पर जब लोगों ने पूछा कि खुद रिहा क्यों नहीं हो गये तो कहा, "आका (परमेश्वर) के साथ मेरा एक राज (रहस्य) है जिसका हल सूली पर चढ़े बगैर नामुमकिन है।" फिर कहा था, "मैं खुदा की कैद में हूँ और शरीअत का लिहाज करता हूँ।"

इसके पश्चात् इन्हें तीन सौ कोड़े लगाये गये। हर बार गैब से आवाज (आकाशवाणी) आती थी--'ऐ मंसूर, तू डर मत।' जब सिपाही उन्हें सूली की ओर ले चले तो सेवक ने उनसे नसीहत चाही। उन्होंने कहा, "अपने आपको अच्छे कामों में लगाये रख, वरना मन बुरे कामों में लग जायेगा। अपने आपकी परख करना और बुरे-भले का विवेक रखना बड़े-बड़ों का काम है।" सूली

के पास पहुँचने पर लोगों ने उनसे हाल पूछा। इस पर बोले–यह मर्दों (आध्यात्मिक साधकों) की चरम अवस्था है। फिर अपने हत्यारों को आशीर्वाद दिया; कहा, "मेरे प्रशंसकों से अधिक पुण्य उनको मिलेगा जो मुझे मार रहे हैं, क्योंकि वे तौहीद (एक ईश्वर) के लिये और शरीअत की पाबंदी के कारण ऐसा करते हैं।" आगे फरमाया कि जवानी में उनकी नजर एक जवान युवती पर पड़ गई थी, उसीका परिणाम आज भुगत रहे हैं। उसी समय उनके समकालीन एक महान् सन्त शिबली वहाँ आये और उनसे पूछा, "तसव्वुफ (साधुता) क्या चीज है ?" उन्होंने उत्तर दिया, "अभी जो तू देख रहा है वह कमतरीन (कम से कम) दर्जा है।" जब पूछा गया कि बुलन्दतरीन (अधिक) दर्जा क्या है, तो कहा, "तेरी वहाँ तक पहुँच नहीं।"

तत्पश्चात् लोगों ने उन पर पत्थर मारे पर उन्होंने आह तक न की। किन्तु जब शिबली ने मिट्टी का एक ढेला फेंका तो मंसूर हल्लाज ने आह भरी। कारण पूछने पर उन्होंने बताया, "जो पत्थर फेंक रहे हैं वे तो अज्ञानी हैं, इसलिये मजबूर हैं। पर रंज तो इस बात का है कि शिबली हमारी कद्र जानते हुए भी कंकड़ मारता है।" जब उनके हाथ काटे गये तो वे हँसकर बोले, "जाहिरी (बाहरी) हाथ काटना तो आसान है; ऐसे मर्द आयें जो हमारे सिफात (गुणों) के हाथ काट सकें, जिन्होंने हिम्मत के ताज को अर्श (स्वर्ग) के सर से

उतारा है।" पैर काटने पर मुस्करा कर कहा, "मैं इनके अलावा भी वह कदम रखता हूँ जो अब भी दो जहान का सफर कर सकते हैं।" फिर चेहरे पर खून से लथपथ हाथ मलते हुए कहा कि मर्दों का लेपन खून ही है, और कुहनियों को खून से लथपथ करके बोले कि इश्क की नमाज खून के वज़ू (नमाज पढ़ने के पहले हाथ-पैर का धोना) के विना नहीं होती। इसके बाद उनकी आँखें निकाली गईं और नाक-कान काटे गये और अन्त में जबान। मगरीक (गोधूलि की नमाज) के वक्त उनका सर धड़ से अलग कर दिया गया। वे जोरों से हँसे और प्राण त्याग दिया। कई वर्षों पहले किसी ने उनसे 'सब्र' का अर्थ पूछा था। उन्होंने उत्तर दिया था, "हाथ-पैर काट कर सूली पर चढ़ा दे तो भी उफ न करे।" जीवनी-लेखक अत्तार इस पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं कि यह बात आपने ही सिद्ध कर दिखाई।

मृत्यु के पहले मंसूर हल्लाज ने लोगों से कहा, "मेरे हालात को देखकर खुदा की रहमत पर शक न करना। जो चाहा सो पाया।" इसके बाद एक फारसी आयत पढ़ी जिसका तात्पर्य है-"मेरा दोस्त जरा भी जालिम नहीं है। उसने मुझे वह शराब दी जो मेहमान को दी जाती है।"

कत्ल के समय खून का जो कतरा जमीन पर गिरा था, उससे भी 'अनलहक' का आकार वन गया। उनकी देह के टुकड़े टुकड़े कर दिये गये, किन्तु हर हिस्से

से 'अनलहक' की आवाज आती रही । सिपाहियों ने घबरा कर उनकी देह को जला डाला और राख को जोर्डन नदी में फेंक दिया । पर कहते हैं, उस राख ने भी पानी पर 'अनलहक' का आकार धारण कर लिया । अन्त में उनकी राख को हवा में उड़ा दिया गया ।

(४)

मन्सूर हल्लाज के बारे में इस्लाम धर्मावलंबियों और विद्वानों के मत भिन्न भिन्न हैं । कुछ लोग उन्हें निरा अज्ञानी मानते हैं, तो कुछ चमत्कार करने वाला जादूगर । कुछ अन्य व्यक्ति कोई राय ही प्रकट नहीं करते तथा उनके जीवन और अनुभूतियों को रहस्य मानते हैं । अब्दुल्ला खफीफ नामक प्रसिद्ध सूफी सन्त के मत में वे आलमे-ख्यानी थे (अर्थात् इस जगत् के नहीं बल्कि देवलोक के थे) । शिबली ने कहा कि वे हमेशा इबादत में रहे । जीवनी-लेखक अत्तार के अनुसार इन दो सम्माननीय सूफी सन्तों का प्रमाण मन्सूर-जैसे विवादास्पद सन्त की महानता को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है । एक बुजुर्ग ने कहा है, "अहले तरीकत (सन्तों के समूह) में आज तक किसी को वैसा दर्जा हासिल नहीं हुआ है जो मन्सूर को हुआ । जब मंसूर के मामले पर नजर करता हूँ तो हैरान होता हूँ कि कयामत के दिन मुद्दयों (सन्त होने का दावा करने वालों) के साथ क्या मामला किया जायगा ।" हजरत-अब्बासा-तूरी मन्सूर को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कहते हैं कि मन्सूर को

कयामत के दिन कयामत के मैदान में जंजीरों से बाँधकर लाया जायगा वरना वह कयामत के मैदान को उथल-पुथल कर देगा। इनके अलावा कुछ ऐसे भी खुदा के बन्दे हैं, जो कहते हैं कि मंसूर प्रेम-सागर की एक बूँद को पीकर ही मदहोश हो गया। वह ऊँचे दर्जे का आरिफ (भक्त) नहीं था। बेहतर तो यह होता कि वह उस ईश्वरीय सुरा को दान करने की अपनी क्षमता को अधिकाधिक बढ़ाता।

'अनलहक' मंसूर ने अहंकार के आवेश में नहीं कहा था। अबु-सइद-अबुल-खैर नामक सूफी शायर ने मंसूर पर जो रूबाइयाँ (चौपाइयाँ) लिखी हैं, उनका आशय भी यही है कि मंसूर हल्लाज का अहकार पूर्ण-तया नष्ट हो गया था और 'अनलहक' की आवाज खुद खुदा ने मंसूर की जबान से कही थी। कहा जाता है कि सूली पर चढ़ने के पहले मन्सूर के सामने शैतान उप-स्थित हुआ और उसने पूछा, "आपने 'अनलहक' (मैं सत्य हूँ) कहा और मैंने 'अना खैरून' (मैं अच्छा हूँ)। आप पर खुदा ने रहमत की और मुझ पर लानत। इसका क्या सबब ?" मन्सूर हल्लाज ने कहा, "तूने अपने ही वास्ते और खुदी से कहा! मैंने खुदी (अहं-कार) को दूर किया। यही फर्क है।"

सूफियों की मृत्यु के बाद उनके बारे में अन्य सन्तों द्वारा स्वप्न देखने की बात सूफियों के जीवन-चरित्रों में पायी जाती है। शिबली ने मन्सूर से स्वप्न

में पूछा कि खुदा ने आपके साथ क्या किया, तो वे बोले, "मुझे सचाई के महल में उतारा और बहुत एह-सान किया।" शिबली ने ईश्वर से प्रार्थना की और मन्सूर जैसे मोमिन (श्रद्धावान) और आरिफ (खुदा को पहचानने वाले) को ऐसी बला में डालने का कारण पूछा। उन्हें स्वप्न में मानो भगवान् ने बताया, "हमने उसको एक राज बताया, और उसने उसे गैरों के सामने जाहिर कर दिया। यही सजा होती है ऐसे शख्स की जो बादशाह का राज दूसरे से कहे।"

इस्लाम धर्म का एक महत्वपूर्ण आधार है–ईश्वर की एकता, जिसके अनुसार ईश्वर का साक्षात्कार तो किया जा सकता है किन्तु उसके साथ एकाकार नहीं हुआ जा सकता। 'अनलहक' कहना धर्म के विपरीत है और इसका प्रतिकार न करना इस्लाम की नींव को ही हिला देने के समान है। यही कारण था कि उस समय के धर्माचार्यों ने मन्सूर हल्लाज की श्रेष्ठता जानते हुए भी तथा यह समझते हुए भी कि 'अनलहक' की वाणी ईश्वरीय उन्माद की चरम अवस्था की सूचक है, समाज की दृढ़ता के लिये उन्हें सबके सामने दंड देने का निश्चय किया था।

(५)

मन्सूर हल्लाज का चरित्र कई प्रकार से अनोखा है। उनके जीवन में हम इस्लाम, ईसाई और हिन्दू धर्म के अंशों का समन्वय पाते हैं। मुसलमान होते हुए भी

मन्सूर की शिक्षाओं तथा दर्शन में ईसा मसीह को महत्व-पूर्ण स्थान प्राप्त है। उनकी मृत्यु भी ईसा की मृत्यु से मिलती जुलती है। इस्लाम का भलीभाँति अनुसरण करते हुए वे धर्म के बन्धनों और नियमों के ऊपर उठ गये थे तथा अद्वैत की अवस्था तक पहुँच गये थे। जहाँ मन्सूर का जीवन एक ओर इस्लाम धर्म में निहित सत्य को प्रदर्शित करता है, वही वह उसमें समाये हुए अन्ध-विश्वास और संकुचितता को भी स्पष्ट कर देता है। इतने महान् सन्त होते हुए भी उन्हें उसी धर्म के अनुयायियों की संकीर्णता का शिकार होना पड़ा, जिसका सहारा लेकर उन्होंने ईश्वर का साक्षात्कार किया था।

मन्सूर हल्लाज की कुछ उक्तियाँ इस प्रकार हैं–

"अल्लाह के सिवा किसी से उम्मीद न रखे, और अल्लाह की तरफ नजर रखे–इसी का नाम फिक्र (फकीरी) है।

"सूफी वह है जो (खुदा के अलावा) न किसी को जानता है और न कोई उसको।

"खुदा को पहचानने वाले वह हैं जो दुनिया की प्रत्येक वस्तु को क्षणभंगुर और नश्वर जानें।

"सबसे बड़ा खुल्क (सद्व्यवहार) यह है कि यदि लोग जुल्म और बुरा सुलूक (दुर्व्यवहार) करें तो कोई असर न हो।

"खुदा अगर चाहे तो सुई के सूराख (छिद्र) से प्रकट हो जाये, और अगर नहीं चाहे तो जिन्दगी भर

को कोशिशों के बावजूद न प्रकट हो।

"न तो नाउम्मीद हो खुदा ताला से, और न घमंडी हो।

"यह चाह कि उसकी (खुदा की) मुहब्बत मिले, पर उसकी मुहब्बत का दावा न कर।"

•

भगवान् के प्रिय पुष्प

अहिंसा प्रथमं पुष्पं द्वितीयं करणग्रहः।
तृतीयकं भूतदया चतुर्थं शान्तिरेव च॥
शमस्तु पंचमं पुष्पं ध्यानं चैव तु सप्तमम्।
सत्यं चैवाष्टमं पुष्पमेतैस्तुष्यति केशवः॥
एतैरेवाष्टभिः पुष्पैस्तुष्यते चार्चितो हरिः।
पुष्पान्तराणि सन्त्येव बाह्यानि नृपसत्तम॥

—अहिंसा पहला, इन्द्रियसंयम दूसरा, जीवों पर दया करना तीसरा, क्षमा चौथा, शम पाँचवाँ, दम छठा, ध्यान सातवाँ और सत्य आठवाँ पुष्प है। इन पुष्पों के द्वारा भगवान् सन्तुष्ट होते हैं। नृपश्रेष्ठ! अन्य पुष्प तो पूजा के बाह्य अंग हैं, भगवान् उपर्युक्त आठ पुष्पों से ही पूजित होने पर प्रसन्न होते हैं।

– वेदव्यास (पद्मपुराण)

ना ट क

पूर्व और पश्चिम

प्राध्यापक अमूल्य सेन, वर्धमान विश्वविद्यालय

["सायणाचार्य ने अपने भाष्य का स्वयं उद्धार करने के निमित्त मैक्समूलर के रूप में पुनः जन्म लिया है।... ऐसा परिश्रमी और ऐसा वेद-वेदान्तसिद्ध पण्डित हमारे देश में भी नहीं पाया जाता। इसके अतिरिक्त श्रीरामकृष्ण पर भी उनकी कैसी गंभीर भक्ति है! उनके अवतारत्व पर भी उन्हें विश्वास है। मैं उनके ही भवन में अतिथि रहा था – कैसी देखभाल और सत्कार किया! दोनों वृद्ध पति-पत्नी को देखकर ऐसा अनुमान होता था कि मानो वसिष्ठ देव और देवी अरुन्धती संसार में वास कर रहे हैं। मुझे विदा करते समय वृद्ध की आंखों से आंसू टपकने लगे थे।"—स्वामी विवेकानन्द (विवेकानन्द साहित्य, षष्ठ खंड, पृ. ५३)

सन् १८९६ ई. में स्वामी विवेकानन्द जब इंगलैण्ड में थे, तब वे अनन्य भारततत्त्वविद् जर्मन मनीषी, आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के प्राध्यापक, महामति मैक्समूलर के घनिष्ठ सम्पर्क में आये थे। इस महान् मनीषी ने ४५ वर्ष के अक्लान्त परिश्रम और गवेषणा के द्वारा ऋग्वेद के शुद्ध पाठ का कई शताब्दियों उपरान्त पुनरुद्धार किया था और टीका एवं व्याख्या समेत उसे समग्र संसार के विक्षुब्ध जनसमाज के हाथों में प्रस्तुत किया था। इस प्रकार के खोजपूर्ण कार्य को उत्साहित करने के लिए भारत में अंग्रेजी शासन की प्रतिष्ठात्री ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने नौ लाख रुपये का एक कोष तैयार किया था। इसी से "Sacred Books of the East Series" का प्रकाशन सम्भव हो सका था। विख्यात पत्रिका "The Nineteenth Century" के अगस्त १८९६के अंक में मैक्समूलर ने "A Real Mahatman"

नाम से श्रीरामकृष्ण पर एक लेख लिखा था जिसने पर्याप्त हलचल पैदा की थी। स्वामीजी तब यूरोप में थे। तत्पश्चात् स्वामीजी की प्रेरणा एवं स्वामी सारदानन्दजी की सहायता से उन्होंने "The Life and Sayings of Ramakrishna" नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। यह नवम्बर १८६८ ई. की बात होगी। स्वामी विवेकानन्द ने स्वयं इस ग्रन्थ की समालोचना की और मैक्समूलर की असामान्य मनीषा और गहन भारत-प्रेम की भूरि-भूरि प्रशंसा की (विवेकानन्द साहित्य, दशम खंड, पृ० १४६–५४)। श्रीमती ओलि बुल को लिखित एक पत्र में (विवेकानन्द साहित्य, चतुर्थ खंड, पृ०४०३) स्वामीजी कहते हैं, "वे (मैक्समूलर) संत जैसे हैं और सत्तर वर्ष के होने के बावजूद युवक की तरह दिखते हैं और उनके चेहरे पर एक भी झुर्री नहीं है। काश, उनके भारत और वेदान्त के प्रति प्रेम का अर्धांश भी मुझे मिलता!" 'विवेकानन्द साहित्य' के और भी अनेक स्थलों पर स्वामीजी ने भिन्न भिन्न प्रसंगों में मैक्समूलर का उल्लेख किया है।

आज ऐसा लगता है कि संस्कृतज्ञ पण्डित-समाज को छोड़कर अन्य कोई मैक्समूलर का स्मरण नहीं करता। यह हमारा दुर्भाग्य है।

यह निम्नोक्त रचना स्वामी विवेकानन्द की विभिन्न उक्तियों के सन्दर्भ में तथा इतिहास के साथ संगति बनाये रखते हुए नाटक के रूप में लिखी गयी है। मूल रचना बंगला में है।]

आक्सफोर्ड में मैक्समूलर का बैठकखाना

[१८९६ ई० का एक स्मरणीय दिन। स्वामी विवेकानन्द मैक्समूलर के अतिथि हैं। स्वामीजी के भक्त श्री स्टर्डी मनोयोगपूर्वक एक संस्कृत ग्रंथ पढ़ रहे हैं और कुछ टिप्पणियां लिख रहे हैं। बैठकखाने में वे अकेले ही हैं। रात के ८ बजे होंगे।]

[बाहर से]

May I come in ?

स्टर्डी । Yes, come in.

(एक पादरी ने प्रवेश किया और कुर्सी पर बैठते हुए कहा] Good Evening.

स्टर्डी । (हाथ मिलाते हुए) Good Evening, Father.

पादरी । प्राध्यापक मैक्समूलर क्या अन्दर हैं, श्रीमान्-?

स्टर्डी । स्टर्डी, ई० टी० स्टर्डी ।

पादरी । अच्छा, आप ही श्रीमान् स्टर्डी हैं ? उस जादूगर विवेकानन्द के चेले ?

स्टर्डी । (मुस्कराकर) नहीं, फादर ! जादूगर का चेला तो नहीं बन सका, पर हाँ, मैं स्वामी विवेकानन्द का भक्त अवश्य हूँ ।

पादरी । वह एक ही बात है । अच्छा हुआ, आप भी यहीं हैं । मैं इँगलैण्ड के पादरी-संघ का प्रवक्ता बनकर आक्सफोर्ड के प्राध्यापक मैक्समूलर के पास लन्दन से आया हूँ । उनसे एक विशेष आवश्यक कार्य है । क्या उन्हें कृपया खबर भिजवा देंगे ?

स्टर्डी । वे थोड़ी ही देर में यहीं आ रहे हैं । एक विशेष अतिथि के साथ वे भीतर व्यस्त हैं । आप थोड़ा रुकें ।

(स्टर्डी पुनः पढ़ने लगे ।)

पादरी । (थोड़ा रुककर) हाँ, काम की बात तो आपको भी बता दूं । अच्छा, आप तो अंग्रेज हैं, ईसाई

हैं, सर्वोपरि आप राजा की जाति के हैं। फिर, आप लोग यह क्या कर रहे हैं भला !

स्टर्डी । आप क्या कहना चाहते हैं, समझ न सका। खुलासा कहिए।

पादरी । हाँ, खुलासा ही कहूँगा। याद रखें, यह अकेले मेरी बात नहीं है, मारे ईसाई समाज की बात है। मैं तो मात्र उनका अगुवा बनकर आया हूँ।

स्टर्डी । सारे ईसाई समाज की तो नहीं। पर हाँ, यह समझ रहा हूँ कि कुछ धर्म-पादरियों के आप प्रतिनिधि होकर आये हैं। कहिए, क्या बात है।

पादरी । क्या अब भी मेरा संकेत न समझ सके ? पश्चिम के जिस साम्राज्य में सूर्य का अस्त नहीं होता और जहाँ ईसाई सभ्यता का परम गौरव है, उसकी प्रतिष्ठात्री यह अंग्रेज जाति ही है। पूर्व के प्रचण्ड आक्रमण से आज उसमें दरार पड़ गयी है यह क्या आप नहीं देख रहे हैं ? बड़े दुःख की बात है कि आप लोग देश-द्रोही का पार्ट अदा करने में लगे हैं और इस आक्रमण को और भी सहज बना दे रहे हैं। आप लोग इँगलैण्ड के शिक्षित समाज के सिर-मौर हैं। फिर भी उस जादूगर ने आप लोगों को इतना मोहित कर लिया है कि आप लोगों को दीख नहीं रहा है कि कैसे सर्वनाश के रास्ते पर आप जा रहे हैं ! इँगलैण्ड की यह

glorious tradition है कि यहाँ कोई traitor जन्म नहीं लेता। यह भी क्या आप भूल गये ? कैसा आश्चर्य है !

स्टर्डी । ओफ् ओ ! इतना बड़ा संकट सन्निकट है यह तो आपसे मिलने के पहले जान ही न सका था ! हमारी महीयसी रानी के सिर पर साम्राज्य का जो मुकुट शोभा पा रहा है उसका सर्व-श्रेष्ठ रत्न है कोहिनूर। और भारत का ही एक साधारण गेरुआधारी संन्यासी उस कोहि-नूर को छीनने सीधे साम्राज्य के केन्द्र लन्दन में चला आया है, सचमुच यह भय की बात है ! न तो उसके साथ कोई सेना है, न शस्त्र-अस्त्र। उसने तो रोमन सेनापति जूलियस सीजर को भी मात दे दी ! सचमुच !

पादरी । हाँ, देखा आपने, समस्या कितनी गम्भीर है !

स्टर्डी । आप ठीक ही कहते हैं, फादर। भारतवर्ष जादूगरों का देश है। जादूगर विवेकानन्द जूलि-यस सीजर के ही समान यहाँ आकर कह रहा है—veni, vidi, vici—मैं आया, मैंने देखा, मैंने जीत लिया। फिर उसके हाथ में लाठी भी है ! जादू की लाठी है— magic wand ! यह तो भयंकर बात है। इसकी रोकथाम अभी से करनी होगी। मैक्समूलर के इस बैठकखाने में बैठकर, रात्रि के अन्धकार में

शरीर पर कपड़ा ओढ़कर गम्भीर परामर्श करना होगा। प्राध्यापक आ जायें।

पादरी। नहीं, नहीं, बात अभी इतनी गम्भीर नहीं हो पायी है। पर होते कितनी देर लगती है? हमें सावधान रहना होगा। जरा देखिए न, विवेकानन्द के जन्तर-मन्तर के कारण इस देश की सुपुत्री मार्गरेट नोबल, हेनरियेटा मूलर, यहाँ के सम्मानित सेवियर दम्पती, गुडविन तथा और भी कितने अंग्रेज नर-नारी अपनी जाति की महानता को बिसार दे रहे हैं और विश्व के एकमात्र सत्य धर्म ईसाइयत को छोड़ दे रहे हैं। और आप भी तो बहुत-कुछ उधर झुके हुए हैं। पर देखता हूँ, अब भी आपके लिए आशा है। (उठकर स्टर्डी के कान के पास मुंह ले जाकर) एक गुप्त बात आपसे कहूँ। जब तक प्राध्यापक महोदय नहीं आ जाते—

स्टर्डी। न-न, उनको आने दें। भला मैं यह सब बातें क्या समझूं। लोगों ने तो कहना शुरू कर दिया है कि मैं मैक्समूलर की छायामात्र हूँ।

पादरी। आप विश्व की सर्वश्रेष्ठ जाति में जन्म लेकर इसे क्या प्रशंसनीय समझते हैं? छिः-छिः! वह जर्मन अध्यापक ही तो सारी बुराइयों की जड़ है। इँगलैण्ड की उदारता और अतिथि-परायणता का लाभ उठाकर उसने क्या एक

चौपट किताब—वेद—छपवायी है। इस फिज़ूल काम के लिए हमारी ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने नौ लाख रुपया दिया है! देखिए, इसी व्यापारिक कम्पनी ने कभी हमारी महीयसी रानी के मुकुट के लिए विश्व का सर्वश्रेष्ठ हीरा भारत का कोहिनूर दिया था। भारत के शासन का अधिकार खोकर यह कम्पनी आज सब कुछ खो बैठी है। कम्पनी के अधिकारियों की बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है, तभी तो उन्होंने इतना रुपया पानी में फेंक दिया। सो भाड़ में जाय! अंग्रेज तो कितना पैसा नष्ट कर रहे हैं। हमें तो रुपये-पैसे का कोई अभाव नहीं। किन्तु यह क्या?

स्टर्डी। सो ठीक, पर कम्पनी ने और क्या किया?

पादरी। कम्पनी ने नहीं, मैक्समूलर ने। मूर्तिपूजक हिन्दू सम्प्रदाय की सबसे बीभत्स एक नंगी नारी मूर्ति, जिसे वे लोग काली कहते हैं, के एक बर्बर priest (पुजारी) को मैक्समूलर कहते हैं A Real Mahatman! और वह लेख इँगलैण्ड की किसी साधारण पत्रिका में नहीं बल्कि सर्वश्रेष्ठ अखबार The Nineteenth Century में छपा है! इँगलैण्ड ही क्यों, पृथ्वी के सर्वश्रेष्ठ शिक्षाकेन्द्र आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी ने अभी तक प्राध्यापक की नौकरी को कैसे बहाल रख दिया, यही सोचता हूँ अचरज में।

स्टर्डी । मुश्किल है। आज सारी अंग्रेज जाति में घुन लग गया है। आप सारे के सारे पादरी इस देश में शासन के सभी स्तरों पर मध्ययुग के समान अपनी प्रधानता स्थापित करना चाहते हैं। जब तक ऐसा न हो तब तक रक्षा नहीं।

पादरी । आप हँसी न करें, मिस्टर स्टर्डी। हम इतने मूर्ख नहीं हैं कि यह न समझें कि वह स्वर्णयुग फिर से लौटकर नहीं आयेगा। अब तो एकमात्र भरोसा आप लोग हैं—देश के गण-मान्य, शिक्षित आधुनिक लोग हैं। तभी तो आप लोगों के पास आया हूँ कि भगवान् ईसा के सन्देश का स्मरण आपको करा दूँ जिससे आप लोग इस महान् ईसाई सभ्यता को और भी महान् बना सकें। मि० स्टर्डी, आपने हमारी प्रधानता स्थापित करने की बात उठायी। आपसे पूछूं, ईसाई सभ्यता के विस्तार का श्रेष्ठ साधन यह जो आज के युग का औप-निवेशिक साम्राज्यवाद है, उसकी आदि से लेकर अन्त तक की कार्यप्रणाली में ईसा के सेवक हम धर्मपादरियों का स्थान क्या कम महत्वपूर्ण है ? आपने तो इतिहास पढ़ा है, आप ही बतलाइए ।

स्टर्डी । (घड़ी देखते हुए) कुछ भी नहीं सीख सका, फादर! इतिहास का कुछ भी न जान पाया। आपके

समान मौलिक प्रतिभा सम्पन्न गुरु के समीप सीखने का भी तो अवसर नहीं मिला। छोड़िए, वह बात जाने दें। आप क्या प्रस्ताव लेकर आए हैं यह तो अभी तक कहा नहीं। आपका वह आवश्यक कार्य क्या है इसे तो जान ही नहीं पाया !

पादरी। सुनिए, बतलाता हूँ। इँगलैण्ड के पुरोहित-सम्प्रदाय की एक आवश्यक बैठक में सर्वसम्मति से यह प्रस्ताव पारित हुआ है कि इस देश में विवेकानन्द के पौत्तलिकता-प्रचार को बंद करना होगा। किन्तु हम लोग तो सुसभ्य अंग्रेज जाति के हैं, अतः एक साधारण प्रजा पर बलप्रयोग नहीं करेंगे। इसलिए ऐसा निश्चय हुआ है कि मैक्समूलर के साथ विवेकानन्द का शास्त्रार्थ हो। भारत के धर्मग्रंथ मुट्ठी भर ही तो हैं और मैक्समूलर ने उन ग्रंथों का अध्ययन किया है, अतः वे उस देश के मूर्तिपूजक हिन्दू धर्म की कुरीतियों और दोषों को अच्छी तरह जानते हैं। मैक्समूलर विवेकानन्द को तर्क द्वारा परास्त कर दें और उसे इस देश से भले-चंगे विदा दे दें। यही अनुरोध लेकर—

(मैक्समूलर का प्रवेश)

मैक्समूलर। किसे भले-चंगे विदा देने का अनुरोध लेकर आप मेरे पास आये हैं, फादर ?

पादरी । अरे, उसी विवेकानन्द को; असभ्य देश के गेरुआधारी हिन्दू संन्यासी को । मिस्टर मैक्स-मूलर, ब्रिटिश राज्य के पैर चाँटनेवाले बर्बर हिन्दू सम्प्रदाय के उस संन्यासी का हौसला तो देखिए । वह अपने राजा के देश में आकर मूर्तिपूजा का गुणगान कर रहा है । आपने तो उस देश के जो दो-चार धर्मग्रन्थ हैं उन्हें पढ़ा ही है । हम तो घृणा के कारण उनको छूते तक नहीं । आप तो पौत्तलिक धर्म की निस्सा-रता अच्छी तरह जानते हैं । ईसाई धर्म की यह आशा है कि आप 'सँपेरों और जादूगरों' के देश से आये उस हिन्दू संन्यासी के जादू और छल-कपट से उसकी रक्षा करें । एकमात्र आप ही सम्मानपूर्वक यह कार्य कर सकते हैं ।

मैक्समूलर । हाँ, शायद कर सकता हूँ । भौतिक विज्ञान की असीम शक्ति का घमण्ड करनेवाला पश्चिम आज सारे विश्व का ग्रास करना चाहता है । उसके भीतर अपनी ईसाई सभ्यता की कल्याण-कामना सुप्त है । उस के जागरण-गान में मैं भी अपना स्वर मिला सकता हूँ । परन्तु फादर ! उस गान का भाव और स्वर नितान्त भिन्न है । आपकी अन्धी गली में से उसका रास्ता मिलनेवाला नहीं है ।

पादरी। (कुछ चिढ़कर) आपका राजपथ कौनसा है जरा सुनूँ ?

मैक्समूलर। (दृढ़ और संयत स्वर में) फादर ! आपने व्यंग किया कि भारत के धर्म और संस्कृति के सम्बन्ध में मात्र दो-चार किताबें हैं। बात यह है कि तब का भूत अभी भी अंग्रेज जाति के कन्धों पर जोरों से बैठा हुआ है। जिस पूर्व की ऊँचाई हिमालय के समान और गहराई सागर की तरह, आप लोग सोचते हैं, यही नहीं, विश्वास करते हैं कि उसके सारे ग्रन्थ ब्रिटिश म्यूजियम की एक छोटीसी आलमारी के एक खाने में रखे जा सकते हैं ! जीवन-भर मैं भारतीय विद्या की खोज में लगा रहा हूँ। आज मैं ७० वर्ष का हो गया और जीवन की सन्ध्या में पहुँच-कर जब मैं हिसाब लगाता हूँ तो देखता हूँ कि मैं कुछ भी न कर पाया। उस अनन्त शब्द-सागर के छोर को भी न छू सका। फादर, मूर्ख की अज्ञानता को तो क्षमा किया जा सकता है, किन्तु जो जानकर भी मूर्ख की तरह आचरण करता है उसके पाप के बोझ को हल्का करने के लिए करुणामय ईश्वर भी सामने नहीं आते।

पादरी। (और भी चिढ़कर) मिस्टर मैक्समूलर ! आप

कभी भी भारत गये नहीं, इसीलिए ऐसी खोखली बातें आपने कहीं । कुछ इनी-गिनी संस्कृत की पोथियाँ पढ़कर और उनकी मन-गढ़न्त टीका पर मुग्ध होकर आपने जिस सपने के भारत को रचा है वह वास्तविक भारत की श्रीहीनता और रूढ़ियों के धक्के से टूटकर चूर-चूर हो जायगा। 'भारतवर्ष नरमांस-भक्षी है, नंगा है, शिशुओं और नारियों का हत्यारा है, मूर्ख और कायर है–एक बात में कहूँ तो वह सब प्रकार के पाप और अन्धकार से भरा है।' उस देशका भाग्य अच्छा समझिये कि अंग्रेज जाति ने परम करुणा और उदारता के वश हो वहाँ का शासन-भार अपने हाथों में लिया है और वह उस असभ्य देश को सभ्य बनाने में लगी है। हम ईसाई मिशनरियों ने भी, हम जो 'ईश्वर के इकलौते पुत्र' के सेवक हैं, उस अन्धकार में घिरे जीवों को आलोक के राज्य में ले आने का भार अपने कन्धों पर लिया है। हमें इसमें काफी सफलता भी मिली है। भारत के विभिन्न स्थानों पर जैसे जैसे अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार होता जा रहा है, वैसे वैसे इस शिक्षा में पगे भारतीय अपने देश के इतिहास पर लज्जा करने लगे हैं। आज वे समाज-सुधार के क्षेत्र में, धर्म के क्षेत्र में, यहाँ तक

कि राजनैतिक अधिकार के मामले में भी अंग्रेज की हितैषी बुद्धि और उदारता पर पूरी तरह निर्भर हैं। और ऐसे समय कहाँ की नंगी और बीभत्स कालीमूर्ति की पूजा करनेवाले एक ब्राह्मण पुजारी का चेला यहाँ आ टपका है और इँगलैण्ड की ठीक छाती पर चढ़कर हमारी सारी कोशिशों पर पानी फेर दे रहा है ! नहीं, यह हम नहीं होने देंगे, कभी नहीं होने देंगे। It seems, we are on the verge of a crisis, yes, a crisis of an unprecedented character. (इतना लम्बा भाषण देकर पादरी साहब हांफने लगे।)

स्टर्डी। फादर, आपका उपदेश खत्म हुआ तो? दुःख की बात है कि आपका उपदेश व्यर्थ हुआ। फिर, आप स्वयं ही अपनी बातें काट रहे हैं। देखिए, भारत तो हमारे पैरों-तले है। भले ही क्षेत्रफल और जनसंख्या में वह विशाल है पर हम उसे पिछड़ा रखने में, गरीब और कमज़ोर बनाकर रखने में सफल हुए हैं। तब वहाँ के मात्र एक निवासी से इतना भय क्यों? और मजे की बात यह है कि वह निवासी सर्वत्यागी संन्यासी है! आपको डर है कि विवेकानन्द अंग्रेज जाति के अस्तित्व की जड़ में चोट पहुँचाकर ईसाई सभ्यता में crisis पैदा करने

आये हैं। तब तो आपको स्वीकार करना पड़ेगा कि हमारी इस भौतिक समृद्धि के बीच कहीं कोई वहुत बड़ा अभाव रह गया है। आपको मानना पड़ेगा कि हम जो अपनी विश्वविजयी शक्ति का अभिमान करते हैं वह खोखला है। इस हिन्दू संन्यासी ने यह कमजोरी पकड़ ली है। अवश्य यह वीर संन्यासी विवेकानन्द किसी अलौकिक ज्योति से ज्योतिर्मान् बनकर आये हैं, तभी तो आप जैसा एक ईसाई मिशनरी आज इतना घबड़ा उठा है। ईसाई सभ्यता कैसी दीवालिया हो गयी है!

मैक्समूलर। तुम ठीक कहते हो, स्टर्डी, बिलकुल ठीक बात कहते हो। अमित तेजस्वी, महान् हलचल मचा देनेवाले विवेकानन्द ने आज ईसाई सभ्यता की जड़ को पकड़कर खींचा है। जरा शिकागो और डिट्राइट की घटनाओं का स्मरण करो। जिस ईसाई शक्ति के अजेय शौर्य और असाधारण कूटनीति से भय खाते हुए सारी पृथ्वी थर-थर काँप रही है, उसी के पीठस्थान अमेरिका की छाती पर खड़े होकर इतनी बड़ी चुनौती देने का हौसला विवेकानन्द ने कहाँ से पाया! अखबारों में तुमने उनकी वह गर्वीली घोषणा पढ़ी होगी–'अरे ईसाइयो!

तुमने इतने बड़े धर्मप्राण देश की सन्तानों के सरल विश्वास के साथ छल किया है। जो महान् देश आध्यात्मिकता की विकास-भूमि रहा है उसकी सन्तानों की सरलता और सांसारिक उदासीनता का अनुचित लाभ उठाते हुए तुमने उनके पास से एक-एक करके समस्त मानवीय अधिकारों को छीन लिया है। तुम्हें इसका प्रायश्चित्त करना होगा। उनके मानवीय अधिकारों को वापस देना होगा, अन्यथा मरोगे। तुम्हारी इस नयनाभिराम सभ्यता का गगनचुम्बी सौध प्रचण्ड भूकम्प से ध्वस्त हो जायेगा और सारी पृथ्वी श्मशान की नीरवता से धाँयँ-धाँयँ करने लगेगी।' फादर! मैं भी एक ईसाई हूँ, गर्वीला जर्मन हूँ। मुझे गर्व है कि मैं पश्चिम की विपुल वैज्ञानिक प्रगति का प्रत्यक्ष उत्तराधिकारी हूँ। यह मेरा गौरव है कि भौतिक विज्ञान की केन्द्रभूमि जर्मनी मेरी पितृभूमि है! फिर भी, फिर भी, फादर, जाने क्यों मेरा चित्त आशंकाओं से भरा हुआ है। मैं मानवजाति के भविष्य की कल्पना कर सिहर उठता हूँ।

पादरी। प्राध्यापकजी! भला आपको कौनसी आशंका घेर सकती है? आपकी यह नवजाग्रत् पितृभूमि

उठने के लिये कटिबद्ध है और अपने असीम आत्मविश्वास के बल पर यूरोप के अन्यान्य देशों को होड़ में पीछे ठेल दे रही है। जर्मनी की अभूतपूर्व प्रतिष्ठा और उसके प्रसार को देखकर आज हमारा इँगलैण्ड भी चकित है।

मैक्समूलर। मैं राजनीति लेकर माथापच्ची नहीं करता, फादर। वह एक दूसरी दुनिया है। वहाँ हमारा प्रवेश निषिद्ध है। मैं पश्चिम की ईसाई सभ्यता के लिए आशंकित हूँ, जो आज विज्ञान की बदौलत समूची मानव-सभ्यता का नेता बनने जा रही है। पश्चिम से मानो पराजित होकर प्रकृति अपनी गोद में छिपे हुए असीम शक्ति के उद्गम को खोल दे रही है। परन्तु इसका अन्त कहाँ है! यूरोप के विभिन्न राष्ट्र आपसी स्वार्थ के मारे मर रहे हैं। उनमें परस्पर कड़ी आर्थिक होड़ है और आग उगलने वाले अस्त्रों की झनझनाहट ने उन्हें उन्मत्त बना दिया है। पूर्व के असहाय लोगों के भाग्य से पश्चिम आज गेंद खेल रहा है। डर लगता है कि शक्ति का दुरुपयोग होते देख कहीं प्रकृति रुष्ट न हो जाय और इसका भयंकर बदला न ले ले। तब मानव-सभ्यता को आत्मघाती बनने से कौन रोकेगा? मुक्ति भला कहाँ है! (ऊपर की ओर ताकते रहे।)

पादरी। (व्यंग्य भरे स्वर में) इस प्रश्न का उत्तर आप ही दीजिए न, पण्डितजी ! पर इतना मैं अवश्य कहूँगा कि आपकी यह व्यग्रता अकारण है। आपने भारत की भौतिक विद्या का बहुत ज्यादा अध्ययन कर लिया है इसीलिए आपके मन में एक हौआ समा गया है। कायाविहीन छाया को देखकर आप चौंके जा रहे हैं।

मैक्समूलर। जो सोने का ढोंग कर रहा है, उसकी नींद को कौन तोड़ सकता है ? तथापि आपने व्यंग्य के मिस एक सच्ची बात कह दी है। हाँ, भारत के वेद-वेदान्त को पढ़कर ही मेरे मन में यह प्रश्न जगा है। वहाँ के उपनिषद् की एक प्रार्थना है– 'रुद्र ! यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम्।' रुद्र की प्रचण्ड संहार-कारी शक्ति जाग उठी है। पश्चिम ने हृदय को उपवासी रखा और बाहर सब कुछ पा लेने की कोशिश करने लगा, इसी से यह शक्ति जगी है। परन्तु सृष्टि की रक्षा करने के लिए रुद्र के प्रसन्न मुख का, उनकी कल्याणकारी शक्ति का आह्वान करना होगा । इस आह्वान का मंत्र पूर्व के हृदय के स्वर्ण-मंजूषे में रखा हुआ है–हाँ, सच कहता हूँ, भारत के उसी वेदान्त में है। मैंने यह जाना है, यह देखा है। मानवकल्याण के इस शाश्वत और महान्

सन्देश को स्वामी विवेकानन्द आज पश्चिम के दरवाजे पर ले आये हैं। उनके इस अभिनव दौत्य में पूर्व और पश्चिम का मिलन-मंत्र साकार हो उठा है, मानव-सभ्यता की मंगल-कारी शक्ति मूर्तिमान् हो उठी है। जैसे एक-बार विश्व-शान्ति के दूत, 'ईश्वर के इकलौते पुत्र' ईसा मसीह आये थे, उसी प्रकार अबकी बार आये हैं दक्षिणेश्वर के ऋषि रामकृष्ण के ये मानसपुत्र-सबको अमृतत्व का अधिकारी बनाने के लिए। श्रीरामकृष्ण भारत की युगयुगान्त व्यापी अथक साधना की घनीभूत मूर्ति थे। फादर, यह जो शुभ योग उपस्थित हुआ है उसकी अवहेलना न करो। मानव के दरवाजे पर भिखारी के वेश में फिर से देवता आये हैं, उन्हें यों ही वापस लौटा न दो।

पादरी। मिस्टर मैक्समूलर ! आपके समान भारत के प्रति सहानुभूति रखनेवाला मनीषी भी आखिर तनिक भूल कर बैठा। यदि आपका यही विश्वास और धारणा है कि मानव-सभ्यता का संजीवनी मंत्र भारत में है तो आप अपने उस सर्वतीर्थ स्वरूप पूर्व देश में एक बार भी क्यों नहीं गये? यदि जाते तो अपनी आँखों से देख पाते कि मेरी बात सत्य है या आपका स्वप्न।

मैक्समूलर। भारतवर्ष जाकर फिर लौट न सकूंगा, फादर, ! भारत का नीलाकाश, उसका मुक्त पवन, वहाँ का वन-उपवन, नद-नदी, पहाड़-पर्वत—यहाँ तक कि भारत के सैकड़ों कुसंस्कार, दारिद्रय और प्रपंच मुझे हाथ हिला-हिलाकर हरदम बुला रहे हैं; मानो कह रहे हैं-'मेरे बच्चे, घर लौट आओ, दूसरे के घर में क्यों पड़े हुए हो ?' भारत तो मेरे हृदय में जन्म-जन्मान्तर की अटूट डोरी से बँधा हुआ है। तभी तो उसकी छवि मेरे मनश्चक्षु के सामने इतनी उज्ज्वल और प्राणवन्त होकर हरदम झूलती रहती है।

पादरी। छिः छिः ! मिस्टर मैक्समूलर ! आप न तो ईसाई हैं, न जर्मन। आप पुनर्जन्म को जो मानने लगे हैं ! कैसी घृणित बात है !

मैक्समूलर। (दृढ़ता के साथ) हाँ, फादर, मैं ईसाई हूँ, मैं वेदान्ती हूँ। पूर्व व पश्चिम दोनों मेरे लिए स्वदेश हैं। पश्चिम मेरा गर्व है तो पूर्व मेरा अभियान। वेद-वेदान्त को जन्म देनेवाली, अध्यात्मवाद की वैचित्र्यपूर्ण लीलाभूमि, ईश्वर प्राप्ति की युग-युगव्यापी साधना के प्रभाव से तीर्थ बनी हुई भारत-जननी आज विदेशियों की दासता में बँधी है। इस निष्ठुर सत्य को मेरा मन किसी भी भाँति ग्रहण नहीं कर पा

रहा है। महाबली असुरों ने फिर से स्वर्ग का राज्य छीन लिया है। सुरगण भय के मारे भाग चले हैं। आज एक ओर कुत्सित तमोगुण और निपट गरीबी छायी हुई है तो दूसरी ओर बहुविध भौतिक शक्तियों और वैभव की चकाचौंध है। मनुष्यों की परस्पर होड़ ने जिस विषम वैषम्य को जन्म दिया है वह जाने कब तक ईश्वर की इस मंगलमय वसुन्धरा पर बना रहेगा! भारत का आत्मविस्मृति का अन्धकार कब और कैसे दूर होगा?

स्टर्डी। इसका उत्तर तो आपने दे दिया, अध्यापकजी। आत्मविस्मृति के अँधेरे को चीरते हुए प्राची में लाली फूट चली है। इस आलोक के उन्नायक हैं रामकृष्ण-विवेकानन्द। मुक्ति का यह जो मार्मिक प्रश्न है उसके समुचित समाधान का सूत्र हैं रामकृष्ण और उसकी टीका स्वयं विवेकानन्द हैं, और वे आज इसी मुहूर्त में अतिथि के रूप में पश्चिम के दरवाजे पर खड़े हैं।

मैक्समूलर। (मानो कुछ याद आया हो) सच है, यही तो एकमात्र सच है। धन्यवाद, स्टर्डी, तुम्हें धन्यवाद। इतनी बड़ी बात तुमने फिर से मेरे मुँह में डाल दी। फादर, इस बार मैं भारत-तीर्थ चला। सच कहता हूँ, मैं भारत के महा-

मानव के सागर-तीर पर पहुँच गया हूँ। वे रहे तीर्थंकर विवेकानन्द। एक सन्देश लेकर पश्चिम में आये हैं, इँगलैण्ड में आये हैं, मेरे ही घर अतिथि होकर पधारे हैं। मैं धन्य हूँ, धन्य हूँ। फादर, हमारे ईश्वर तो स्वर्गराज्य में रहते हैं। करुणा के वश हो मात्र एक बार उन्होंने अपने पुत्र को मानवों की मुक्ति के लिए भेजा था। पर मुक्ति के उस सन्देश को पश्चिम ने आधुनिक युक्तिवाद की आँधी और भौतिक विज्ञान की चकाचौंध में खो दिया है। ईश्वर का पुत्र ईसा आज भी सूली पर चढ़ा है। जड़वाद की भभकती हुई ज्वाला उस देवशिशु की छाती को जोरों से झुलसा रही है। इसकी तुलना में अतीत में पोन्टियस पाइ-लेट द्वारा दी गयी सूली तो फूल के समान कोमल थी!

पादरी। वार-वार यह कैसी बातें कर रहे हैं? यह बिलकुल ईसाई के लिए उचित नहीं है। मि० मैक्समूलर, यह बात क्या आपको शोभा देती है? यह सब बातें सुनने लायक नहीं है। मानता हूँ कि व्यक्ति-स्वातंत्र्य की जन्मभूमि हमारे इस इँगलैण्ड में आप सोचने और बोलने में स्वतंत्र हैं। तो भी एक मर्यादा तो रखनी चाहिए। उसका लोप नहीं होना चाहिए,

मैक्समूलर साहब ।

मैक्समूलर । नहीं,मर्यादा को मैं नहीं लाँघ रहा हूँ,पादरी साहब । अपनी कर्मभूमि इँगलैण्ड का ऋण मैं कभी चुका न सकूँगा । पर इतना अवश्य कह दूँ कि मैं कृतघ्न नहीं हूँ, मैं ईसाई हूँ । भले ही आपके मतानुसार मैं ईसाई कभी न बन सकूँ । फादर, हिन्दुओं के भी देवता उसी स्वर्ग में रहते हैं, परन्तु वे युग युग में मानव के रूप में अवतीर्ण होते हैं । इस युग में वे रामकृष्ण रूप धरकर आये हैं । मैं जानता हूँ,इसीलिए मैं यह मानता हूँ । हिन्दुओं के धर्मशास्त्रों को मैंने प्रयत्न पूर्वक पढ़ा है,उन पर चिन्तन किया है । भारत का धर्म किसी अवतार अथवा महामानव के द्वारा प्रतिष्ठित मत या सम्प्रदाय नहीं है, वह सनातन मानव धर्म है । इस धर्म में साकार पूजा का स्थान है और साथ ही निराकार उपासना की भी उतनी ही महिमा है । इस धर्म में हिन्दू, बौद्ध, ईसाई, मुसलमान सभी को समान स्थान प्राप्त है । मानवप्रेम के बल पर यह धर्म असीम शक्तिशाली है और वेदान्त के बल पर यह सतत प्रगतिशील है । आपने थोड़ी देर पहले भारत का जो कुत्सिन चित्र सामने रखा, वह सम्भव है एकदम निराधार या काल्पनिक न हो । पर इतना अवश्य कहूँगा

कि वह अर्धसत्य है, धर्म की ग्लानि से उत्पन्न विकार मात्र है। भारत की यह दुर्गति धर्म के कारण नहीं हुई बल्कि इसलिए कि उसने धर्म को अस्वीकार कर दिया। पादरी साहब ! अर्धसत्य तो मिथ्या से भी बढ़कर पाप है। ईसाई होकर ऐसे पाप का प्रचार करना ईश्वर के लिए अक्षम्य अपराध है।

पादरी। (अत्यन्त क्षुब्ध होकर) देखिए मैक्समूलर साहब, आप बार बार वही एक बात कहकर मुझे चोट पहुँचा रहे हैं। प्रभु कम से कम आपको तो क्षमा कर दें। मैं एक बात आपसे पूछता हूँ, क्या आप उस देश के ब्राह्मणों और पण्डितों की भी अपेक्षा अधिक जानते हैं ? वे ही लोग तो कहते हैं कि मूर्तिपूजा और अन्यान्य क्रिया-अनुष्ठान उनके धर्मशास्त्रों द्वारा अनुमोदित हैं। उनका अन्धविश्वास ऐसा गहरा है कि क्या बताऊँ ! वे लोग सोचते हैं और ऐसा उपदेश भी देते हैं कि उनके पाशविक धर्मानुष्ठान में यदि थोड़ी भी त्रुटि हो गयी या किसी प्रकार की बाधा आ गयी तो सर्वनाश हो जायगा।

मेक्समूलर। मैं यह भी जानता हूँ, फादर ! साथ ही मुझे यह भी मालूम है कि वे ब्राह्मण-पण्डित कहलाने वाले लोग न तो ब्राह्मण हैं,न पण्डित।

उनके लिए वेद और पंचांग के विधान समान हैं। वे दोनों विधानों में कोई अन्तर नहीं देखते। इसीलिए वहाँ जन साधारण में व्याप्त धर्म आध्यात्मिकता से गिरकर पौत्तलिकता में सिमटकर रह गया। वे वेद की उदात्त घोषणा भूल गये–'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।' इसी आत्मविस्मृति से भारत को उबारने के लिए, मुक्ति देने के लिए और उसे अपने अधिकार में प्रतिष्ठित करने के लिए 'जितने मत उतने पथ' की घोषणा करने वाले ऋषि रामकृष्ण आये हैं। उन्हीं का सन्देश वेदान्त-घोष के माध्यम से विवेकानन्द पश्चिम के कोने कोने में सुना रहे हैं। इस युगपुरुष ने जो अपूर्व साधना साधी है वह तो केवल भारत की मुक्ति के लिए नहीं है, बल्कि समूचे विश्व की मुक्ति के लिए है। मैं तो हैरत में पड़कर सोचा करता हूँ कि आखिर ऐसा कौन सा बड़प्पन है जिसको लेकर हमारे मिशनरी लोग रामकृष्ण-विवेकानन्द के देश में धर्म प्रचार करने जाते हैं!

(विवेकानन्द का प्रवेश)

विवेकानन्द। अध्यापकजी, यह भारत का दुर्भाग्य है कि आज उसके पास इस बड़प्पन का उत्तर देने की कोई क्षमता नहीं रही। एक प्रबल हीनता की भावना ने भारत को ग्रस लिया है। अपनी

कठोर जमीन पर खड़े होकर भारत आज पश्चिम के दान को ग्रहण करना भूल गया है। न उसमें आत्मविश्वास है, न श्रद्धा। उसके पास बस है "परानुकरणप्रियता, परमुखापेक्षिता, पराश्रयता और दास सुलभ दुर्बलता; और इन्हीं की सहायता से भारत ऊँचे अधिकार प्राप्त करना चाहता है!" यही पराधीनता का अभिशाप है। पादरी लोग इसी दुर्बलता की खबर रखते हैं। शक्तिमान् ईसाई शासकों का संरक्षण पाकर वे लोग भारत जाते हैं और हिन्दू समाज की निम्न श्रेणियों में घुसकर धर्म का प्रचार करते हैं। उनके बीच ढोल पीट-पीटकर घोषणा करते हैं कि ऊँचे वर्णों के हिन्दू तुमसे घृणा करते हैं, तुम्हारी अवहेलना करते हैं। बिना किसी रोक-टोक के वे हिन्दू धर्म के सिर पर निन्दा की बौछारें करते हैं और शासक-वर्ग के धर्म में समान अधिकार देने और पद-प्रतिष्ठा प्राप्त कराने का झूठ-मूठ प्रलोभन देकर उन्हें ललचाते हैं। और इस कार्य में सहायक बनते हैं हमारे ही अपने देश के तथाकथित शिक्षित लोग जो अपने आपको समाज-सुधारक और राष्ट्रप्रेमी मानते हैं। और ये ही लोग बल के घमण्ड में फूली बरतानिया सरकार के सामने हाथ बाँधे खड़े रहते हैं।

दूसरे किसको दोष दें, अध्यापकजी, किसको दोष दें। (दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए।)

(विवेकानन्द के प्रवेश करते ही सभी उठ खड़े हुए थे, यहां तक कि पादरी भी। पादरी मंत्रमुग्ध की नाईं स्वामीजी की बात सुन रहे हैं।)

पादरी। कैसा आश्चर्य है ! क्या आप–आप ही विवेकानन्द हैं ?

विवेकानन्द। हाँ, मैं विवेकानन्द हूँ। रामकृष्ण के मंत्र में, भारत के मंत्र में दीक्षित होकर मैं भारत की रक्षा के लिए भारत के धर्म को जगाने हेतु केवल भारत की नहीं बल्कि समूचे पश्चिम की परिक्रमा करने निकला हूँ। अतः मैं पादरी साहब का प्रतिद्वन्द्वी हूँ। (हँस पड़े।) पादरी साहब ! मेरा देश भले ही गरीब है, अशिक्षित है, अन्धविश्वासी है, पर वह धर्म को जकड़े हुए है। इसका अर्थ आप नहीं जानते। अध्यापकजी जानते हैं। आप लोग तो idolatry (पौत्तलिकता) कहते हैं। पर मैं एक बात पूछूँ, जिस धर्म का पालन कर युग युग में रामानुज, चैतन्य, रामप्रसाद, कमलाकान्त और सर्वोपरि रामकृष्ण ब्रह्मज्ञ बने हैं, ईश्वर को देखा है, वह यदि पौत्तलिकता हो तो धर्म फिर है कहाँ ?

स्टर्डी। किन्तु स्वामीजी, निराकार उपासना के माध्यम

से ब्रह्मज्ञ बनने के भी दृष्टान्त तो विरल नहीं। भारत के वेदान्त को पढ़कर मैंने यही सत्य जाना है।

विवेकानन्द। तुमने ठीक जाना है, स्टर्डी; किन्तु भारतीय धर्म में यदि सर्वधर्मसमन्वय के सूत्र को खो दो तो भारत को ठीक जान न पाओगे। मेरे देश के धर्म ने वेद-वेदान्त और पुराणों को भित्ति बनाकर, कुरान और बाइबिल को भी श्रद्धा की दृष्टि से देखना सीखा है। मेरे गुरु श्रीरामकृष्ण का जीवन इसी धर्म का पूर्ण रूप है, इसीलिए वे समन्वयाचार्य हैं और भारत की साधना के मूर्त विग्रह हैं। स्टर्डी, 'यदि कोई ऐसा स्थान है जहाँ मानवजाति में सबकी अपेक्षा अधिक आध्यात्मिकता और अन्तर्दृष्टि का विकास हुआ हो तो वह है मेरी मातृभूमि, मेरी पुण्यभूमि, मेरी कर्मभूमि भारत।' (भारत के ध्यान में मानो मग्न हो गये।) पादरी साहब, मेरा ऐसा देश आज गुलामी के कारण तमोगुण से घिर गया है, अपने आपको भूल गया है। धर्म के देश में आत्मविस्मृति छा गयी है। पर यह अब और नहीं रहेगी। मेरे गुरु का आविर्भाव निरर्थक नहीं हो सकता। सामने दृष्टि फैलाने पर देखता हूँ, 'इस बार केन्द्र भारतवर्ष है, इस बार केन्द्र भारतवर्ष

है । धर्म की प्रेरणा से, चैतन्य की शक्ति से भारत फिर से जागेगा, पुनः उठेगा । अन्तर्निहित देवत्व के स्फुरण से भारत समग्र विश्व का धर्मगुरु बनेगा । वेदान्त को हृदय में प्रतिष्ठित कर एक भारतीय लक्ष–लक्ष मदोन्मत्त मातंग का बल पाकर विश्व पर विजय प्राप्त करेगा । इसके सामने पश्चिम का गोला-बारुद, तोप–बन्दूकें सब मौन हो जायेंगी । भारत जानता है कि मनुष्य देह नहीं है, वह आत्मा है, चिर अमर और निर्भीक है । यही तो मेरा पहले का विश्वपूजित भारतवर्ष है । ईसाई मिशनरी, तुम कौन सा मुँह लेकर मेरे देश में धर्म प्रचार करने जाते हो ?

पादरी । (अकचकाहट) नहीं नहीं, हम लोग भारत में पश्चिम का ज्ञान–विज्ञान देने जाते हैं; दुर्गम ग्रामीण अंचलों में स्कूल, कालेज और अस्प–ताल खोलकर चिर उपेक्षित मनुष्यों के सामने मानव जीवन का आशीर्वाद प्रस्तुत करने जाते हैं । और–और तो कोई बात नहीं है–

विवेकानन्द । (कुछ कठोर स्वर में) मन की आँखों पर पट्टी बाँधकर किसे ठगना चाहते हो, पादरी साहब ? चालाकी से कोई बड़ा काम नहीं हुआ करता, समझे ? तुम तो परम प्रेममय ईसा के सेवक हो न ? महामानव ईसा के, ईश्वरपुत्र

ईसा के सर्वांगीण मानव-कल्याण के आदर्श के प्रचार का भार तुम्हें मिला है न? तो फिर, इस शोषण करनेवाले ब्रिटिश साम्राज्यवाद के पैर चाँटकर, सरल अज्ञ मनुष्यों को कुछ सेवा-कार्यों की आड़ में प्रलोभित कर तुम किस उद्देश्य की पूर्ति करना चाहते हो ? सावधान, पादरी साहब, सावधान ! यदि तुम अपनी कथनी और करनी एक न कर सको तो तुम ईश्वर के धर्म के प्रचारक नहीं हो बल्कि शैतान के दूत हो !

पादरी । (घबड़ाकर) Yes, yes, Vivekananda is a juggler. He is a dangerous monk. He is a dangerous monk. उसकी बड़ी बड़ी आँखों ने मेरे हृदय को भेदकर अन्दर की सारी बातों को पढ़ लिया है। उसका सम्मोहक व्यक्तित्व उसके शंख जैसे कण्ठ के निनाद से वज्र के समान भीषण प्रतीत हो रहा है और मुझे भयभीत कर रहा है। मैं उसे अब और नहीं सह पा रहा हूँ, नहीं सह पा रहा हूँ। (तेजी से प्रस्थान)

स्टर्डी । (धीरे धीरे) स्वामीजी, पादरी साहब लन्दन से अध्यापकजी के पास भागते चले आये थे, आपके जादू से ईसाई सभ्यता की रक्षा करने का संकल्प लेकर आये थे। पर आपके व्यक्तित्व

के सम्मुख आकर वे भागने का रास्ता नहीं ढूँढ़ पा रहे हैं। कैसा आश्चर्य है !

मैक्समूलर। इसमें अचरज करने की कोई बात नहीं है, स्टर्डी। जब धर्म का सहस्रों किरणोंवाला प्रदीप जल उठता है तो अधर्म या पाखण्ड की काली छाया इसी प्रकार दूर भाग जाती है। मैंने वेदान्त के सूत्रों पर दीर्घकाल चिन्तन किया है; शुष्क ज्ञान के अनुशीलन में, मस्तिष्क के निरन्तर व्यायाम में सारा जीवन कट गया, फिर भी तट अभी दूर ही है। वेदान्त आज करुणा करके साकार होकर तुम्हारे और मेरे सामने खड़ा है। असीम आज सीमाबद्ध हुआ है। देखो तो, वेदान्त के सूत्र इस एक मनुष्य के वज्रकठोर संकल्प के रूप में, अखण्ड आत्म-विश्वास और सबल प्रेमधर्म के रूप में कैसी अपूर्वता के साथ परिणत हुए हैं। इसका प्रभाव कैसा अमोघ और दूर दूर तक फैल गया है ! भारत की ही नहीं बल्कि समग्र संसार की मुक्ति के संदेश को स्वयं विधाता ने विवेकानन्द के जीवन-पात्र पर वेदान्त के अक्षरों से लिख दिया है। आनेवाली पीढ़ी का उत्तराधिकार इस प्रकार सुरक्षित रख दिया गया है।

विवेकानन्द। नहीं, अध्यापकजी ! मैं तो अपने गुरु के

हाथ का यंत्र मात्र हूँ। मैं रामकृष्ण का शिष्य हूँ—यही मेरा परिचय है। यदि मैंने कुछ किया है तो वह उन्हीं का कार्य है। यदि कहीं कुछ असफलता रही तो वह मेरी है। पर हाँ, वेदान्त मेरा प्राण है, भारतवर्ष मेरा सर्वस्व है। तो भी ऐसा लगता है, अध्यापकजी, कि 'भारतवर्ष और वेदान्त पर आपका जैसा प्यार है उसका आधा भी यदि मुझमें होता !' स्टर्डी को धन्यवाद। मैं उन्हीं के कारण आपके इतने निकट आ सका। आज मैं आपका अतिथि हूँ। आपको और आपकी सहधर्मिणी को देखकर मेरे मनश्चक्षु के सामने वैदिक ऋषि की गृहस्थी का चित्र तैरने लगता है। आप दोनों के सुखमय जीवन में मानो वसिष्ठ और अरुन्धती ही फिर से मूर्तिमान हो उठे हैं।

(मैक्समूलर ने गहरी श्रद्धा से माथा नवाया।)

स्टर्डी। (हँसते हुए) और हमारे पादरी साहब में आपने किसको देखा, स्वामीजी ?

विवेकानन्द। नहीं स्टर्डी, इतना दोष उन लोगों को न दो। उन लोगों में उदारमना व्यक्ति भी अनेक हैं। भारत उनका बड़ा ऋणी है। जिस अँगरेजी शिक्षा के माध्यम से भारत में पुनर्जागरण का सूत्रपात हुआ है, उसके प्रसार में उनकी बड़ी देन रही है। पश्चिम को तो वे ही

पूर्व के पास ले गये हैं। केरी, मार्शमैन, वार्ड, डफ, लॉंग आदि उदारचेता मिशनरियों ने भारत में शिक्षा और संस्कृति के क्षेत्र में बड़ा कार्य किया है। मेरी अपनी मातृभाषा बँगला भी उन लोगों की बड़ी ऋणी है।

स्टर्डी। किन्तु स्वामीजी, उनका मुख्य उद्देश्य तो ईसाई धर्म का प्रचार ही था।

विवेकानन्द। मैं जानता हूँ, स्टर्डी। पर ईसाई धर्म ने भारत के भाव-सागर का यह जो मन्थन किया है उसमें क्या विष ही मिला है, स्टर्डी? नहीं, अमृत भी पर्याप्त मिला है। तुम्हें मालूम तो होगा, मेरे गुरुदेव की जीवनसाधना में सर्वधर्मसमन्वय का जो सबल सूत्र उपस्थित हुआ है उसमें ईसा मसीह का सत्यधर्म एक महत्वपूर्ण अंग है। अपने जीवन की एक घटना सुनाता हूँ। २४ दिसम्बर, १८८६ को सन्ध्या समय अपने गुरुभाई बाबूराम (स्वामी प्रेमानन्द) की माता के गाँव आँटपुर में हम लोग संन्यास लेने का पवित्र संकल्प लेकर धूनी रमाकर बैठ गये। उस दिन मेरे मन में ईश्वर-पुत्र ईसा के त्याग, वैराग्य, पवित्रता और प्रेम ने एक अपूर्व प्रेरणा ला दी। मेरे अन्य गुरुभाइयों का मन भी उसी प्रेरणा से भर-भर उठा था। अचरज की बात यह है कि हममें से किसी

को यह स्मरण नहीं था कि वह ईसा का जन्मदिन है। वह बात तो हमें बाद में मालूम हुई।

स्टर्डी। सचमुच आश्चर्यजनक घटना है। अब समझा कि कितने महान् गुरु के आप शिष्य हैं!

विवेकानन्द। आज जिस विवेकानन्द को देख रहे हो, स्टर्डी, वह रामकृष्ण का शिष्य होने के कारण ईसा का भी शिष्य बन सका है। उस दिन सन्ध्या सबकी दृष्टि की ओट में रामकृष्ण और ईसा एक दूसरे का हाथ पकड़कर खड़े थे और हम लोगों के महान् संकल्प पर आशीर्वाद की वर्षा कर रहे थे। इसीलिए तो पूर्व और पश्चिम दोनों मेरे इतने अपने हैं। इन दोनों का मिलन और समन्वय मेरे जीवन का व्रत है। पश्चिम के रजोगुण और पूर्व के सत्त्वगुण के सम्मिश्रण से ही मानव-सभ्यता का कल्याणकारी रूप निखरेगा। यदि यह नहीं होगा तो मानवसभ्यता का महान् विनाश हो जायगा। पश्चिम में आकर मैंने पूर्व का जयगान किया है। अबकी पूर्व में जाकर पश्चिम का जयगान करूँगा। धर्म के नाम पर मैं पाखण्ड या कट्टरता नहीं सह सकता; समाजसुधार के नाम पर घृणा या अवहेलना मुझे असह्य है; देशप्रेम के नाम पर शब्दछल अथवा राजनैतिक चालाकी मुझे सहन नहीं है। अमेरिका और इँगलैण्ड के कई

मंचों पर से मुझे यह अप्रिय सत्य कहना पड़ा है। अब स्वदेश लौटकर वही एक कार्य वहाँ भी करना होगा।

स्टर्डी। (घड़ी देखकर) आपकी यात्रा का समय हुआ चाहता है, स्वामीजी। आपको लन्दन में सेवियर के हाथ सौंपकर तब विदा लूँगा।

मैक्समूलर। आप चले जा रहे हैं तो सब सूना सूना लग रहा है, स्वामीजी। एक दिन और यहाँ रहना क्या सम्भव नहीं? हम लोगों के बहुत से काम अभी बाकी हैं। आपके समीप रहने पर सारे कार्य हल्का लगते हैं।

विवेकानन्द। नहीं, पण्डितशिरोमणि! जन्मभूमि छोड़े अरसा हुआ। अब लौट जाऊँगा। गुरु का आदेश मिला है। समय थोड़ा है, कार्यप्रणाली बड़ी लम्बी है। रास्ते में मैटसिनि गैरीबाल्डी के देश इटली में थोड़ा रुकूँगा। फिर निश्चित तिथि पर जहाज पकड़ूँगा और सागर पार होकर स्वदेश पहुँच जाऊँगा। इस यात्रा में सेवियर दम्पती और गुडविन साथ रहेंगे। इँगलैण्ड के लिए मुझे कोई चिन्ता नहीं। अमेरिका में प्रचार अधिक हुआ है और इँगलैण्ड में कार्य। यह वेदान्ती मैक्समूलर का कार्यक्षेत्र जो है! आज आपका आतिथ्य ग्रहण कर मैं अपने को धन्य पा रहा हूँ। हे वेदज्ञ ऋषि, हे अभिनव सायणाचार्य, हे ब्राह्मणश्रेष्ठ,

भारत के इस दीन सेवक की श्रद्धांजलि स्वीकार करें।

स्टर्डी। आप यह क्या कहते हैं, स्वामीजी ! ईसाई जर्मन मैक्समूलर भारत के वर्णश्रेष्ठ ब्राह्मण कैसे हुए ?

विवेकानन्द। (मुसकराकर) यह बात मैक्समूलर से ही पूछो, स्टर्डी। वे तुम्हें समझा देंगे। मैंने बात जरा भी बढ़ाकर नहीं कही। जीवन के ४५ वर्ष जिन्होंने केवल वेद-वेदान्त के अध्ययन में विता दिये, युगों से विस्मृति के गर्तमें पड़े हुए मानव-सभ्यता के प्राचीनतम आदि-साहित्य ऋग्वेद के विशुद्ध पाठ का उद्धार कर जिन्होंने टीका और व्याख्या के साथ उसे समग्र संसार के ताप्त-तप्त हाथों पर रखा, वे यदि ब्राह्मणश्रेष्ठ नहीं हैं तो और कौन है यह मैं नहीं जानता। एक बार मध्ययुग में दक्षिण भारत के ऋषि-प्रवर सायणाचार्य ने इस प्रकार का महान् कार्य किया था। उनके बाद आज पाँच सौ वर्ष बीत गये। मध्ययुग की तुलना में आधुनिक युग में जटिलता और फैलाव बहुत अधिक है। फिर, भौतिक विज्ञान का प्रभाव भी आज सारी सीमाओं को पार कर रहा है। ऐसे वर्तमान युग के सन्दर्भ में जब मैं यूरोप के इन अभिनव सायणाचार्य के कार्य का मूल्यांकन

करने जाता हूँ तो अभिभूत हो जाता हूँ। भारतवर्ष अपने प्राचीनतम और सबसे महान् ऐश्वर्य के आविष्कारक के प्रति श्रद्धा अर्पित करके धन्य हुआ।

मैक्समूलर। (श्रद्धा और विनयपूर्वक) ऐसा कहकर मुझे लज्जित न करें, स्वामीजी। मानवसभ्यता के उद्‌गम को ढूँढ़ने के लिए लगभग आधी शताब्दी पहले मैं दुर्गम रास्ते पर चल पड़ा था और आज जीवन के अन्तिम चरण में अंग्रेज जाति की अनुकूलता के कारण अपनी यात्रा की गाथा लिखकर छोड़ जाने में समर्थ हुआ हूँ। मैंने अपने उपास्य देवता ईश्वरपुत्र ईसा के चरणों में शिशुवत् सरलता से एक छिपी प्रार्थना की थी–'प्रभो! मेरे समस्त कर्मों का फल हाथ में देकर इस जीवन को पूर्ण बना दो।' सो प्रभु ने मेरी वह प्रार्थना सुन ली। आज मेरे समान भाग्यवान और कौन है! मेरा श्रेय और प्रेय एक ही आधार में मूर्तिमान हुआ है। मेरे सपने का भारत विवेकानन्द के ज्योतिर्मय रूप में आज मेरे ही घर में अतिथि है। इँगलैण्ड के इस घर में बैठकर मैंने भारत के दर्शन कर लिये। यह घर तीर्थ हो गया! मेरे जीवन में यह एक क्षण शाश्वत बन गया। हे भारत, हे मुक्तिपथ के अग्रदूत, हे रामकृष्ण के

विवेकानन्द, हे मूर्तिमन्त वेदान्त, मेरा यह अन्तिम अर्घ्य स्वीकार करो, प्रभो, मेरा अन्तिम अर्घ्य स्वीकारो।

(मैक्समूलर ने हाथ जोडकर प्रणाम किया। विवेकानन्द आगे बढ़ आये और उनके हाथों को अपने हाथों में ले लिया। स्टर्डी अवाक् होकर खड़े हैं। वेदान्त की प्रशस्त भूमि पर मानो पूर्व और पश्चिम का मिलन हुआ है। विधाता का यह रहस्यमय संकेत विद्युत्-वल्लरी के समान चमक उठता है।)

विवेकानन्द। अध्यापकजी! पददलित, अत्याचार-पीड़ित, सर्वस्वहारा मातृभूमि के अस्फुट आर्तनाद ने हृत्तन्त्री के तारों को झनझनाकर मुझे गृहत्यागी बना दिया। जब मैं भारत में आसेतुहिमाचल परिभ्रमण कर रहा था तो अपनी आँखों से देखा है कि कैसी अविश्वसनीय गरीबी और प्रबल अन्धविश्वास ने, गुलामी की बेबसी और तमोगुण की निष्क्रियता ने समूचे देश को ढक लिया है। गुरु के चरणों में एक बार मैंने चिरन्तन भारत के महिमामण्डित रूप को देखा था। उसके साथ जब मैंने आज के भारत को, भारत के वर्तमान रूप को मिलाने की कोशिश की तो मुझे मार्मिक वेदना हुई। मैं तो पागल के समान हो गया। भारत के दक्षिणी छोर कन्याकुमारी में उद्विग्न चित्त लेकर उपस्थित

हुआ और सागर में कूद पड़ा। उसके बाद तैरकर, किनारे से दूर अवस्थित भारत के अन्तिम शिलाखण्ड पर पहुँचा और वहाँ आँखें बन्द कर ध्यान में बैठ गया। आँखों से आँसू बह चले। आकुल होकर गुरु के चरणों में प्रार्थना करने लगा–ठाकुर ! शक्ति दो, भारत की पराधीनता दूर कर सकूँ इसकी शक्ति दो। ओह ! क्या बताऊँ, स्वर्ग की शान्ति हृदय में उतर आयी; भीतर मानस-सिन्धु का विक्षोभ शान्त हुआ। और तब अर्धजाग्रत् अर्धनिद्रित अवस्था में एक अलौकिक दृश्य देखा।

स्टर्डी। वह कैसा दृश्य था, स्वामीजी ? हमें बतलाइए।

विवेकानन्द। देखा, असीम सागरवक्ष की उत्ताल तरंगों के साथ मेरे प्रेममय गुरुदेव पैरों के आघात से रास्ता बनाते चले जा रहे हैं और पश्चिम की ओर इशारा कर रहे हैं। कानों में उनका आह्वान तैर आया–अरे आ, आ, मेरे साथ चला आ !

स्टर्डी। यह तो अद्भुत घटना है, अलौकिक अनुभूति है। उसके बाद क्या हुआ, स्वामीजी ?

विवेकानन्द। उसके बाद ही अपरिचित, बिन-बुलाए अतिथि के रूप में मैं पश्चिम के दरवाजे पर, शिकागो के धर्म-महासम्मेलन में भाग लेने आ पहुँचा। देखो न, १८९३ से १८९६ ई. तक तीन

वर्ष से भी अधिक समय पश्चिम की जड़वादी सभ्यता के दो पीठों में—अमेरिका और यूरोप में कट गया। कितना नहीं पाया, कितना नहीं सीखा। उल्का के वेग से सर्वत्र भ्रमण किया है, गुरु-प्रदत्त मंत्र का प्रचार किया है, मानव को मुक्ति का सन्देश सुनाया है। सर्वांग वेदान्त को केन्द्र बनाकर उसके उस पक्ष का प्रचार नहीं किया जहाँ जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन है बल्कि व्यावहारिक जीवन में उसको प्रतिष्ठित करने का सन्देश फैलाया है। आप जैसे उदारचेता मनीषियों के घनिष्ठ सम्पर्क में आया। परन्तु अपनी चिरपूज्या मातृभूमि की वेदना और छलना को एक क्षण के लिए भी नहीं भूल सका, अध्यापकजी। मेरे हृदय-मन्दिर में रामकृष्ण देव के साथ वही एक विग्रह अभिन्न होकर सुप्रतिष्ठित है। उन्नत, बलिष्ठ पश्चिम की पृष्ठभूमि में आज मैंने जाना है कि मेरे देश की शून्यता और उसके अध:पतन का क्या कारण है। गुरुप्रदत्त भारत-मंत्र की जाँच बृहत् विश्व के निकष पर हो गयी। अब फिर से गुरु की पुकार सुनायी पड़ रही है—'अरे! लौट आ, लौट आ! कोटि - कोटि दिग्भ्रान्त नरनारी तेरे मुँह को जोहते बैठे जो हैं। आ, लौट आ।' पश्चिम

की देन सिर पर लेकर अब माता की गोद में लौट जाऊँगा। मुझे अब विदा दें, अध्यापकजी। अपनी अरुन्धती माँ से विदा लेकर आया हूँ। उन्होंने मेरे सारे अंगों पर स्नेह-स्पर्श फेरकर आशीर्वाद का कवच पहना दिया है। हे महान् वसिष्ठ ! मुझे आशीर्वाद दें।

मैक्समूलर। (विह्वल होकर) आशीर्वाद ? क्या मैं आशीर्वाद दूँगा ! नहीं, नहीं, तब तो मैं दोषी हो जाऊँगा। मेरी शुभेच्छा, मेरा अभिनन्दन ग्रहण करें, स्वामीजी। (थोड़ा रुककर) एक बार, और एक बार अपने हाथ मेरे हाथों में दीजिए। अपने अमृत-स्पर्श से इस वृद्ध को कृतार्थ करते जाइए।

(मैक्समूलर की आंखों में आंसू आ गये। विवेकानन्द ने उनके हाथों में अपने हाथ दिये।)

विवेकानन्द। अध्यापकजी, यह क्या ! आपकी आँखों में यह जल कैसा ! वेदान्ती माया से दूर रहता है। अध्यापकजी ! आप प्रसन्न मुख से मुझे विदा करें।

मैक्समूलर। छोड़ने की इच्छा जो नहीं होती। जिनके दर्शन से मेरी सारी साध और सारे सपने पूरे हुए, उन्हें क्या छोड़ा जा सकता है ? मेरे जन्म-जन्मों की मातृभूमि भारत ! तुम्हें प्यार करके तुम्हारी श्रेष्ठ सन्तान को मैंने इतने

घनिष्ठ रूप से पाया था। तुम्हारा ही कार्य सिद्ध करने के लिए आज उसे छोड़ देना पड़ रहा है। Goo l Night, Swamiji, Good Night. 'शिवास्ते सन्तु पन्थानः' !

(दोनों आलिंगन-बद्ध हुए। पूर्व और पश्चिम एकाकार हो गये।)

विवेकानन्द। Good Night, Good Night, Adhyapakji. मैं फिर से आऊँगा। मुझे पुनः पश्चिम के इस भूखण्ड पर आना पड़ेगा जहाँ मैक्समूलर निवास करते हैं और जहाँ पूर्व और पश्चिम को मिलाने के प्रयासस्वरूप उनकी विराट कर्मसाधना स्पन्दित हो रही है। चलो, स्टर्डी।

(दोनों बाहर निकले। मैक्समूलर मानो ठगे-से खड़े रहे।)

●

अन्तर्गतमलो दुष्टस्तीर्थस्नानशतैरपि ।
न शुद्ध्यति यथा भाण्डं सुराया दाहितं च तत् ॥

—जिसके हृदय में विकारादि मल भरे पड़े हैं ऐसा दुष्ट सौ बार भी तीर्थस्नान से शुद्ध नहीं होता, जैसे मदिरा का पात्र जलाया जाय तो भी वह शुद्ध नहीं होता।

—चाणक्य

अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द

प्राध्यापक देवेन्द्र कुमार वर्मा

(गतांक से आगे)

दूसरे दिन श्रीमती हेल स्वामीजी को धर्ममहासभा कार्यालय में ले गईं। उनका वहाँ के अधिकारियों से परिचय था। अतः बिना किसी कठिनाई के स्वामीजी को प्रतिनिधि के रूप में स्वीकार कर लिया गया। डा० राइट द्वारा भेजे गए पत्र भी कार्यालय में पहुँच गए थे। यह स्वामीजी के लिए ईश्वर की महती कृपा ही थी। उन्हें अब दृढ़ विश्वास हो गया कि उनके प्रत्येक कार्य के पीछे ईश्वरीय शक्ति कार्य कर रही है। उनकी सारी दुश्चिन्ताएँ समाप्त हो गईं। हृदय नवोत्साह से परिपूर्ण हो गया। निराशा के काले बादल जो कुछ समय से उनके मानसपटल पर छाए हुए थे, छिटककर दूर हो गये। उनके निवास की व्यवस्था वहाँ प्रतिनिधियों के साथ कर दी गई। हेल परिवार के प्रति स्वामीजी का हृदय कृतज्ञता से भर गया। थोड़े ही समय में इस धर्मप्राण दम्पती से उनका प्रगाढ़ स्नेह-सम्बन्ध हो गया। वे स्नेह से श्री हेल को 'फादर पोप' और श्रीमती हेल को 'मदर चर्च' के नाम से संबोधित करते थे। हेल दम्पती की पुत्रियाँ और भतीजियाँ उनकी बहनें हो गईं।

धर्ममहासभा एक विराट आयोजन था। कोलंबस द्वारा अमेरिका की खोज की ४०० वीं वर्षगाँठ के उप-लक्ष में मानव की भौतिक उन्नति और प्रगति को दर्शाने

के लिए जिस प्रकार विश्वमेला का आयोजन हुआ था, उसी प्रकार उसके आध्यात्मिक और धार्मिक विचारों के आदान-प्रदान के लिये धर्ममहासभा का आयोजन हुआ। इसकी कल्पना जिस व्यक्ति ने की थी वे थे सुप्रसिद्ध अधिवक्ता श्रीमान चार्ल्स कैरोल बोनी। वे अपनी सदाशयता, विशाल हृदय और विलक्षण बुद्धि के लिए विख्यात थे और उनके विचार बौद्धिक वर्गों में बड़े आदर के साथ सुने जाते थे। उनकी अध्यक्षता में ३० अक्टूबर सन् १८९० को "वर्ल्ड्स कॉंग्रेस आक्ज़िलियरी ऑफ कोलंबियन एक्सपोज़िशन" नामक समिति का गठन किया गया जिसके अन्तर्गत मानवसमाज के उत्थान में महत्वपूर्ण योगदान देने वाले विषयों पर चर्चा करने के लिए करीब बीस समितियाँ बनाई गईं। उनके प्रमुख विषय थे—नारी-उत्थान, समाचार - पत्र, चिकित्सा - विज्ञान, वाणिज्य, वित्त, संगीत, राजनीति तथा अर्थ-विज्ञान आदि। कहना अत्युक्ति न होगी कि इन सबमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण और जनमानस को सबसे अधिक आकर्षित करनेवाली यह धर्ममहासभा ही थी। इस प्रकार की धर्मसभाएँ हर देश में होती रही हैं। भारत में भी समय समय पर धर्मसभाओं के द्वारा धर्म की गुत्थियाँ हल की जाती रही हैं। मुसलमानों और ईसाइयों के भी धर्म-सम्मेलन आयोजित होते रहे हैं। पर इस प्रकार की बृहद् महासभा, जहाँ संसार के विभिन्न धर्मों के चुने हुए विद्वान् प्रतिनिधि एक स्थान पर एकत्रित होकर हजारों

लोगों के संमुख अपने धर्म के मूल तत्वों को निर्भीकता के साथ रख सकें, उस समय के भौतिकता और असहिष्णुता के युग में एक अनहोनी वस्तु थी। वह तो ईश्वरीय प्रेरणा ही थी जो धर्ममहासभा के माध्यम से कार्य कर रही थी। इसीलिये स्वामीजी के उस कथन पर तनिक भी आश्चर्य नहीं होता जो उन्होंने अमरीका आने के पूर्व अपने गुरुभाई स्वामी तुरीयानन्दजी से कहा था, "हरिभाई! धर्ममहासभा का आयोजन इसके लिए (अपनी ओर इंगित करते हुए) ही हुआ है। मेरा मन मुझसे ऐसा कहता है। निकट भविष्य में तुम इसकी प्रतीति कर पाओगे।"

यद्यपि स्वामीजी की दिव्य दृष्टि के संमुख महासभा के आयोजन का वास्तविक उद्देश्य प्रत्यक्ष हो उठा था, तथापि उसके आयोजकों का उद्देश्य उससे कहीं भिन्न ही था। महासभा के जो उद्देश्य प्रचारित हुए थे वे संक्षेप में इस प्रकार थे– (१) इतिहास में पहली बार संसार के प्रमुख धर्मों के प्रतिनिधियों को एक मंच पर एकत्रित करना। (२) जनता के संमुख अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से प्रत्येक धर्म के उन महत्वपूर्ण सत्यों को प्रस्तुत करना जो सब धर्मों में समान हैं। (३) अधिकारी विद्वानों द्वारा प्रत्येक धर्म के तथा ईसाई धर्म की प्रमुख शाखाओं के वैशिष्ट्य का प्रतिपादन करना। (४) यह पता लगाना कि एक धर्म ने अन्य दूसरे धर्मों को क्या दिया है अथवा क्या दे सकता है। (५) सुयोग्य प्रतिनिधियों द्वारा यह

अनुसंधान करना कि धर्म आधुनिक युग की विभिन्न क्षेत्रों की जिनमें संयम, श्रम, शिक्षा, वित्त तथा गरीबी प्रमुख हैं, गुरुतर समस्याओं को हल करने में किस प्रकार की सहायता दे सकता है। (६) संसार के सभी देशों को एक दूसरे के और भी निकट लाना जिससे स्थायी विश्व-शांति की स्थापना हो सके। निस्संदेह ये उद्देश्य विशाल दृष्टिकोण लिए हुए थे और उन्होंने संसार के सभी सभ्य देशों को आकर्षित किया था। पर आयोजकों का आन्तरिक दृष्टिकोण दूसरा ही था जो बाद में उनकी वार्ताओं और सभाओं में परिलक्षित होता रहा। स्वामीजी ने बाद में एक पत्र में लिखा था, "ईसाई धर्म अन्य सब धर्मों की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं यही प्रमाणित करने के लिए धर्ममहासभा का आयोजन हुआ था।" तथा बाद में एक साक्षात्कार में उन्होंने कहा था, "मुझे लगता हैं कि संसार के संमुख दूसरे धर्मों को नीचा दिखाने के लिये ही महासभा आयोजित की गई थी।" अनेक लोगों के मन में यह विचार उठ सकता है कि जिस महासभा ने स्वामीजी को संसार के संमुख उपस्थित किया तथा जगत्प्रसिद्ध बनाया, उसके सम्बन्ध में उनका ऐसा कहना क्या उचित था? पर अगर महासभा की कार्यवाहियों का विश्लेषण किया जाय तो यह बात स्पष्ट सिद्ध हो जाती है कि जहाँ एक ओर आयोजकों के हृदयों में दूसरे धर्मों के प्रति अश्रद्धा और अवज्ञा के भाव विद्यमान थे, वहीं दूसरी ओर यह भी दृढ़ विश्वास था

कि अन्ततोगत्वा महासभा में विजयश्री ईसाई धर्म के हाथों लगेगी।

ऐसी बात नहीं कि आयोजकों में उदारमना और सहृदय व्यक्तियों का सर्वथा अभाव हो। प्रेसीडेन्ट बोनी ऐसे उदार और सज्जन व्यक्तियों में अग्रणी थे। पर श्री बोनी के अध्यक्ष होते हुए भी महासभा का समस्त कार्यभार रे० जॉन हेनरी बैरोज के हाथ में था। श्री बैरोज फर्स्ट प्रिसबिटेरियन चर्च के धर्मनेता थे। वे साधारण समिति के सभापति थे तथा उन्होंने महासभा के आयोजन का दायित्व स्वयं ग्रहण किया था। श्री बैरोज ने महासभा के लिए अथक परिश्रम किया था। इसके लिए लगभग दस हजार पत्र और चालीस हजार कागजात बाहरी देशों को भेजे गए थे। तीस महीने तक अनवरत कार्य चलता रहा था। समस्त देशों से परामर्शदाताओं का चयन किया गया था जिनकी संख्या तीन हजार थी। भारत से इन परामर्शदाताओं में 'हिन्दू' पत्र के संपादक जी० एस० अय्यर, बम्बई के बी० बी० नागरकर तथा कलकत्ते के पी० सी० मजुमदार थे। 'हिन्दू' के द्वारा ही महासभा की सूचना भारत में फैली थी। इतनी विशाल कार्यक्षमता के बावजूद भी श्री बैरोज अपनी धार्मिक संकीर्णता से मुक्त नहीं हो पाये थे। जब महासभा के आयोजन की खबर पा, गोरे पादरियों ने उसका यह कहकर विरोध करना आरंभ किया कि गैर-ईसाइयों को ईसाइयों के समकक्ष बिठाना ईसाई धर्म का अपमान करना

है, तब बैरोज साहब ने कहा था, "हमें यह विश्वास है कि ईसाई धर्म अन्य सभी धर्मों की अपेक्षा श्रेष्ठ माना जायेगा क्योंकि इस धर्म में वे सब सत्य विद्यमान हैं जो अन्य धर्मों में हैं; इतना ही नहीं, इसमें अपेक्षाकृत अधिक सत्य हैं क्योंकि यह धर्म अद्वितीय मुक्तिदाता भगवान् की कथा कहता है। यद्यपि प्रकाश और अन्धकार में समता नहीं हो सकती पर आलोक और अल्पालोक के बीच साहचर्य अवश्य हो सकता है। ऐसा कोई देश नहीं जहाँ भगवान् की वाणी का प्रचार न हो, पर जिन्होंने 'क्रास' का दिव्य आलोक प्राप्त किया है उनके लिए यह उचित है कि जो अल्प आलोक में पड़े हैं उनके प्रति भ्रातृभाव दर्शाएँ।" ये विचार एक ऐसे व्यक्ति के नहीं हो सकते जो सब धर्मों को समान आदर की दृष्टि से देखता हो। अनेक ईसाई धर्माचार्यों ने इस आयोजन के विरुद्ध आवाज उठाई। कैंटरबरी के आर्च विशप ने महासभा में योगदान देने की अनिच्छा प्रकट करते हुए साफ लिखा, "मैं जो असुविधा स्वयं अनुभव कर रहा हूँ, वह दूरी अथवा सुयोग के अभाव के कारण नहीं है, बल्कि इसका एकमात्र कारण यह है कि ईसाई धर्म ही एकमात्र धर्म है। और इसीलिए मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि अन्य धर्मावलंबियों को समान आदर देकर और उनके विचारों और मतामतों को चुपचाप स्वीकार कर, ईसाई धर्म किस प्रकार सर्वश्रेष्ठ घोषित हो सकता है?"

महासभा के जो विवरण बाद में प्रकाशित हुए

उनमें ईसाइयों की असहिष्णुता और दूसरे धर्मों के प्रति अनादर तथा उपेक्षा के भाव प्रमुख रूप से उभर कर सामने आए। उदार भाव अपेक्षाकृत कम थे तथा ये उन लोगों में देखने में आए जो जनसाधारण में से थे। बैरोज ने जितनी उदारता प्रदर्शित की, उससे अधिक औदार्य दिखलाने की क्षमता आयोजकों में न थी। उनके अन्तस्तल में यही आशा विद्यमान थी कि अंत में विजय ईसाई धर्म की ही होगी और यह महासभा संपूर्ण विश्व में उस धर्म के प्रचार के लिए सहायक सिद्ध होगी। ईसाई धर्मनेताओं और पादरियों के बीच यह दृढ़ धारणा होते हुए भी सामान्य अमरीकन नर-नारी उदार भावों का पोषण करते हुए उत्कण्ठापूर्वक महासभा की प्रतीक्षा कर रहे थे तथा उसके लिए आर्थिक सहायता प्रदान कर रहे थे।

'स्वामी विवेकानन्द इन अमेरिका' नामक ग्रन्थ की लेखिका श्रीमती मैरी लुइस बर्क ने लिखा है–"उद्देश्य की बात छोड़ देने पर भी, यह महासभा जगत् के इतिहास में एक अभूतपूर्व और अत्याश्चर्यजनक घटना थी। इसके संपूर्ण प्रभाव और तात्पर्य को समझने के लिए अनेक वर्ष लगेंगे; क्योंकि इसके फलस्वरूप मानवजाति के मनो-जगत् में जो एक गंभीर अश्रुत परिवर्तन आरंभ हुआ उसका परिपूर्ण रूप से प्रकटीकरण समय-सापेक्ष है। संसार के सभी भागों से मनुष्य यहाँ एकत्रित हुए थे। वास्तव में यह धर्ममहासभा न होकर विश्वमहासभा

हो गयी थी। यह महासभा यदि केवल यही प्रमाणित करने में सफल हो जाती कि समस्त मानव-धर्मों के बहुत्व में एकत्व निहित है तथा मानवतारूपी एकत्व में बहुलता स्वीकार करना अपरिहार्य है, तब भी इसका गौरव चिरस्मरणीय होता।" इस महासभा का एक उल्लेखनीय परिणाम यह हुआ कि पाश्चात्य दृष्टि में प्राच्य धर्मों की मर्यादा में प्रचुर वृद्धि हुई। महासभा की विज्ञान-समिति के सभापति श्री मरविन-मैरी स्नेल ने बाद में लिखा था, "इस (महासभा) की सबसे प्रधान देन यह है कि इसने ईसाई-जगत् को, विशेषकर संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के अधिकारियों को, यह अमूल्य शिक्षा प्रदान की कि ईसाई धर्म की तुलना में ऐसे अनेक सम्मान-नीय धर्म हैं जिनके दार्शनिक चिंतन का गांभीर्य, जिनकी आध्यात्मिक भाव-संपदा, जिनमें स्वाधीन विचारधारा का उत्कर्ष और मानवमात्र के प्रति अकपटता तथा सहानुभूति का प्रसार ईसाई धर्म को लाँघ जाता है तथा जो नैतिक सौंदर्य एवं कार्य-संपादन की दृष्टि से उससे बिन्दुमात्र भी न्यून नहीं हैं।"

सोमवार, दिनांक ११ सितंबर १८९३ ई० को प्रातः-काल शिकागो के आर्ट इंस्टिच्यूट में महासभा का अधिवेशन प्रारंभ हुआ। ललित कला के प्रदर्शनागार के रूप में इस भवन का निर्माण उसी समय पूर्ण हुआ था। इसके विशाल कक्षों में विभिन्न अधिवेशनों की व्यवस्था हुई थी। ठीक दस बजे दस प्रमुख धर्मों के नाम पर दस बार

घंटा-ध्वनि की गई। अध्यक्ष बोनी के अनुसार ये धर्म थे–यहूदी धर्म, मुसलमान धर्म, हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म, ताओ धर्म, कन्फ्यूशी धर्म, शिन्तो धर्म, पारसी धर्म, कैथोलिक धर्म, ग्रीक चर्च और प्रोटेस्टेंट धर्म। इस विशाल कक्ष में जिसे 'हॉल ऑफ कोलंबस' के नाम से जाना जाता था, उस समय चार हजार से अधिक लोग शान्त भाव से बैठे थे। बहुत से लोग स्थान न मिलने के कारण दरवाजों के पास खड़े थे। लोग इतने शान्त थे कि, एक प्रत्यक्षदर्शी के अनुसार, "जब एक चिड़िया खुली खिड़की से मंच के ऊपर उड़ी तो उसके पंखों की फरफराहट पूरे हॉल में सुनाई दी।" हॉल में एक विशाल मंच का निर्माण किया गया था जो सौ फुट लंबा और पंद्रह फुट चौड़ा था। उसके दो छोरों पर चालीस फुट दूरी पर दो यूनानो दार्शनिकों की प्रस्तर प्रतिमाएँ स्थित थीं। दार्शनिकों की मूर्ति के दाहिनी ओर अपेक्षाकृत छोटी, एक सुन्दर प्रतिमा जो शायद विद्या की देवी की थी, अपने हाथ उठाए लोगों को मानो अभय प्रदान कर रही थी। किंतु सबसे विलक्षण वस्तु थी लौह-निर्मित, अद्‌भुत कारीगरी से युक्त एक सिंहासन, जो सबका ध्यान आकर्षित कर रहा था। यह सिंहासन संयुक्तराष्ट्र के कैथोलिक संप्रदाय के सर्वोपरि धर्मनेता कार्डिनल गिबन्स के बैठने हेतु रखा गया था। सिंहासन दोनों प्रतिमाओं के बीचों बीच रखा गया था और उसके दोनों ओर तीन कतारों में तीस-तीस लकड़ी की कुर्सियाँ सजाई

गई थीं, जिनमें महासभा के प्रतिनिधि और कार्यकर्ता विराजने वाले थे ।

ठीक दस बजे प्रतिनिधियों ने हॉल में प्रवेश किया और वे मंच की ओर अग्रसर हुए । सबसे आगे प्रेसीडेन्ट बोनी और कार्डिनल गिबन्स हाथ में हाथ डाले शालीनता से चल रहे थे । उनके पीछे विश्व मेला की महिला-समिति की अध्यक्षा और उपाध्यक्षा श्रीमती पॉटर पामर तथा श्रीमती चार्ल्स एच. हेनरोटिन थीं । उनके बाद प्रतिनिधियों ने विभिन्न देशों की पताकाओं के साथ क्रमबद्ध कतारों में चलते हुए तथा श्रोताओं की तुमुल हर्षध्वनि ग्रहण करते हुए, मंच पर आकर आसन ग्रहण किया । कार्डिनल गिबन्स बीच के सिंहासन पर बिराजे । उनके दाहिनी ओर श्वेत परिधान पहिने पाँच चीनी बौद्ध प्रतिनिधि बैठे तथा बाईं ओर काले वस्त्रों में सज्जित ग्रीकचर्च के उच्च धर्मनेता । इनके दोनों ओर सफेद, काले, पीले, गेरुए आदि विभिन्न रंगों वाली वेश-भूषाओं में सज्जित प्रतिनिधिगण मंच की शोभा बढ़ा रहे थे । उन्हीं के बीच, भारतीय प्रतिनिधियों के साथ, पीत रंग की पगड़ी और लाल रंग का अँगरखा पहिने, अपने सुदर्शन, तेजोमय और भव्य आकृति की ओर सबका ध्यान आकर्षित करते हुए बैठे थे—स्वामी विवेकानन्द ।

थोड़ी देर में आर्गन बज उठा और सब एक स्वर से ईश्वर-वन्दना करने लगे । संगीत समाप्त हुआ । गंभीर निस्तब्धता के बीच कार्डिनल गिबन्स अपने हाथ उठाकर

बाइबिल की प्रार्थना करने लगे, "हमारे स्वर्गस्थ पिता! आपके नाम की जय-जयकार हो !" इत्यादि। महासभा का कार्य प्रारंभ हुआ। पहले आयोजकों ने प्रतिनिधियों के स्वागत में भाषण दिया। ऐसे सात वाग्मितापूर्ण भाषण हुए जिससे प्रातःकाल का समय प्रायः शेष होने को आ गया। केवल आठ प्रतिनिधि इन स्वागत-भाषणों का संक्षिप्त उत्तर देने का अवसर पा सके। पहले वक्ता थे ग्रीकचर्च के प्रतिनिधि, आर्च बिशप आफ ज़ान्ते। उन्होंने कहा, "मानवमात्र के स्रष्टा एक हैं और वे भगवान् ही सबके पिता हैं।" और अन्त में वे बोले, "मैं अपने हाथ उठाकर, प्रीतिपूर्ण हृदय से संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका और उसके सुखी निवासियों को आशीर्वाद प्रदान करता हूँ।" उनकी बात सुन अध्यक्ष बोनी उल्लसित हो बोले, "यह हमारे लिए गौरव की बात है।" और सारा हॉल श्रोताओं की हर्षध्वनि से मुखरित हो उठा। दूसरे वक्ता थे ब्राह्मसमाज के प्रतिनिधि प्रतापचन्द्र मजुमदार। वे दस वर्ष पूर्व अमेरिका आकर अपने भाषणों द्वारा प्रचुर ख्याति अर्जित कर गये थे। "प्राच्य ईसा" नामक ग्रंथ के रचनाकार के रूप में भी उन्होंने यथेष्ट नाम कमाया था। अतः उनके भाषण में भी जनता ने प्रशंसा में तालियाँ बजाईं। पर सबसे अधिक हर्षध्वनि चीन के प्रतिनिधि पुंग-क्वांग-यू के भाषण में हुई, इसलिए नहीं कि श्रोताओं को कनफ्यूशी धर्म के प्रति सहानुभूति थी, पर इसलिए कि अध्यक्ष

बोनी ने उनके भाषण के पूर्व कहा था, "हमने इस देश में चीन के प्रति पर्याप्त सद्व्यवहार नहीं किया।" बौद्ध धर्म के प्रतिनिधि धर्मपाल के जोशीले वक्तव्य का भी जोर-शोर से स्वागत हुआ।

सभा का कार्य पूरी गति से चल रहा था। इधर स्वामीजी ध्यानस्थ बैठे भगवान् से प्रार्थना कर रहे थे कि वे उन्हें उस विराट् विद्वत्-समाज के संमुख भारत की वाणी निःसृत करने की शक्ति दें। अध्यक्ष ने उन्हें कई बार अपनी वक्तृता देने का आह्वान किया पर वे प्रत्येक बार कहते गये, "नहीं, अभी नहीं।" बारंबार यही उत्तर सुनकर अध्यक्ष को लगा कि आखिर वे बक्तृता देंगे या नहीं। वास्तव में स्वामीजी उस विराट् विद्वत्-समुदाय को देखकर किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गये थे इसका उल्लेख प्राध्यापक राइट को २ अक्तूबर को लिखे गये उनके पत्र में मिलता है। आलासिंगा पेरूमल को लिखे पत्र में महासभा की कार्यवाही और उनकी अपनी मनोदशा का बड़ा सजीव वर्णन प्राप्त होता है। उन्होंने लिखा था, "जिस दिन महासभा का उद्घाटन होनेवाला था, उस दिन सुबह हम लोग 'आर्ट पैलेस' नामक एक भवन में एकत्र हुए जिसमें एक बड़ा और कुछ छोटे छोटे हॉल अधिवेशन के लिए अस्थायी रूप से निर्मित किये गए थे। सभी राष्ट्रों के लोग वहाँ थे। भारत से ब्राह्मसमाज के प्रतिनिधि प्रतापचन्द्र मजुमदार थे, बम्बई से नागरकर तथा जैन धर्म के प्रतिनिधि

वीरचन्द गाँधी थे। थियोसॉफी के प्रतिनिधि के रूप में श्रीमती एनी बेसेंट तथा चक्रवर्ती आये थे। इन सबमें मजुमदार मेरे पुराने मित्र थे तथा चक्रवर्ती मेरे नाम से परिचित थे। शानदार जुलूस के बाद हम लोग मंच पर बिठाये गये। कल्पना करो, नीचे एक बड़ा हॉल और ऊपर एक बहुत बड़ी गैलरी, दोनों में छः-सात हजार आदमी, जो इस देश के चुने हुए स्त्री-पुरुष हैं, खचाखच भरे हैं तथा मंच पर संसार की सभी जातियों के बड़े-बड़े विद्वान् एकत्र हैं। और मुझे, जिसने अब तक कभी सार्वजनिक सभाओं में भाषण नहीं दिया, इस विराट् जन-समुदाय के बीच भाषण देना होगा!! इसका उद्घाटन बड़े समारोह से संगीत और भाषणों द्वारा हुआ। तदुपरान्त आये हुए प्रतिनिधियों का एक-एक करके परिचय दिया गया और वे सामने आ-आकर अपना भाषण देने लगे। निस्संदेह मेरा हृदय धड़क रहा था और जबान प्रायः सूख गई थी। मैं इतना घबड़ाया हुआ था कि सबेरे बोलने की हिम्मत न हुई। मजुमदार की वक्तृता सुन्दर रही। चक्रवर्ती की तो उससे भी सुन्दर। दोनों के भाषणों के समय खूब करतल-ध्वनि हुई। वे सब अपने भाषण तैयार करके आये थे। मैं नासमझ था और विना किसी तैयारी के आया था।"

अपराह्‌न में सभा पुनः प्रारंभ हुई। चार प्रतिनिधियों के भाषण के बाद अध्यक्ष ने पुनः स्वामीजी को

बोलने का आग्रह किया। वे मन ही मन देवी सरस्वती का स्मरण करके उठे। डा० बैरोज ने उनका परिचय दिया। समस्त आँखें उनके प्रदीप्त मुखमंडल पर टिकी हुई थीं। उन्होंने इस संबोधन से अपनी वक्तृता आरंभ की—"अमेरिका निवासी बहनो और भाइयो!" उनका इतना कहना था कि सारा हॉल तालियों की गड़गड़ाहट से गूंज उठा। यह करतल-ध्वनि दो मिनट तक अनवरत होती रही। ऐसा लगा मानो कान के पर्दे फट जायेंगे। लोग हर्ष विह्वल हो खड़े हो गये। जब यह ध्वनि कुछ शान्त हुई तब स्वामीजी ने अमेरिकावासियों को आन्तरिक धन्यवाद देते हुए कहा—"जिस सौहार्द और स्नेह के साथ आपने हम लोगों का स्वागत किया है, उसके फलस्वरूप मेरा हृदय अकथनीय हर्ष से प्रफुल्लित हो रहा है। संसार के प्राचीन महर्षियों के नाम पर मैं आपको धन्यवाद देता हूँ तथा सब धर्मों की मातास्वरूप हिन्दू धर्म एवं भिन्न-भिन्न संप्रदायों के लाखों-करोड़ों हिन्दुओं की ओर से भी धन्यवाद प्रकट करता हूँ।

"मैं उन सज्जनों के प्रति भी धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ, जिन्होंने इस सभा-मंच पर से प्राच्य-प्रतिनिधियों के संबन्ध में आपको यह बतलाया है कि ये दूर देश वाले पुरुष सर्वत्र सहिष्णुता का भाव प्रसारित करने के निमित्त यश और गौरव के अधिकारी हो सकते हैं। मुझको ऐसे धर्मावलंबी होने का गौरव है, जिसने संसार को 'सहिष्णुता' तथा 'सब धर्मों को मान्यता प्रदान' करने की

शिक्षा दी है। हम लोग सब धर्मों के प्रति केवल सहिष्णुता में ही विश्वास नहीं करते, वरन् समस्त धर्मों को सच्चा मानकर ग्रहण करते हैं। मुझे आपसे यह निवेदन करते गर्व होता है कि मैं ऐसे धर्म का अनुयायी हूँ, जिसकी पवित्र भाषा संस्कृत में अँगरेजी शब्द exclusion का कोई पर्यायवाची शब्द नहीं। मुझे एक ऐसे देश का व्यक्ति होने का अभिमान है, जिसने इस पृथ्वी की समस्त पीड़ित और शरणागत जातियों तथा विभिन्न धर्मों के बहिष्कृत मतावलम्बियों को आश्रय दिया है। मुझे यह बतलाते गर्व होता है कि जिस वर्ष यहूदियों का पवित्र मंदिर रोमन-जाति के अत्याचार से धूल में मिला दिया गया उसी वर्ष कुछ अभिजात यहूदी आश्रय लेने दक्षिण भारत में आये और हमारी जाति ने उन्हें छाती से लगाकर शरण दी। ऐसे धर्म में जन्म लेने का मुझे अभिमान है, जिसने पारसी जाति की रक्षा की और उसका पालन अब तक कर रहा है। भाइयो! मैं आप लोगों को एक स्तोत्र के कुछ पद सुनाता हूँ जिसे मैं अपने बचपन से गाता रहा हूँ और जिसे प्रतिदिन लाखों मनुष्य गाया करते हैं –

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम्।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

–जैसे विभिन्न नदियाँ भिन्न भिन्न स्रोतों से निकलकर समुद्र में मिल जाती हैं, उसी प्रकार हे प्रभो! भिन्न भिन्न रुचि के अनुसार विभिन्न टेढ़े-मेढ़े अथवा सीधे

रास्ते से जाने वाले लोग अन्त में तुझमें ही आकर मिल जाते हैं।

"यह सभा, जो संसार की अब तक की सर्वश्रेष्ठ सभाओं में से एक है, जगत् के लिए गीता के उस अद्‌भुत उपदेश की घोषणा एवं विज्ञापन है, जो हमें बतलाता है–

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥

–जो कोई मेरी ओर आता है–चाहे किसी प्रकार से हो–मैं उसको प्राप्त होता हूँ। लोग भिन्न भिन्न मार्ग द्वारा प्रयत्न करते हुए अन्त में मेरी ही ओर आते हैं।

"साम्प्रदायिकता, संकीर्णता और इनसे उत्पन्न भयंकर धर्म-बिषयक उन्मत्तता इस सुन्दर पृथ्वी पर बहुत समय तक राज्य कर चुके हैं। इनके घोर अत्याचार से पृथ्वी भर गयी, इन्होंने अनेक बार मानवरक्त से धरणी को सींचा, सभ्यता नष्ट कर डाली तथा समस्त जातियों को हताश कर डाला। यदि यह सब न होता, तो मानव-समाज आज की अवस्था से कहीं अधिक उन्नत हो गया होता। पर अब उनका भी समय हो चुका है, और मैं पूर्ण आशा करता हूँ कि जो घंटे आज सुबह इस सभा के सम्मान के लिए बजाये गये हैं, वे समस्त कट्टरताओं, तलवार या लेखनी के बल पर किये जाने वाले समस्त अत्याचारों तथा एक ही लक्ष्य की ओर अग्रसर होने वाले मानवों की पारस्परिक कटुताओं के लिए मृत्यु-नाद ही सिद्ध होंगे।"

कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि इस छोटे से संक्षिप्त भाषण ने समस्त श्रोताओं का मन मोह लिया। वे भावविभोर हो उठे। स्वामीजी के भाषण के पश्चात् तुमुल कोलाहल मच गया। लोग उनसे मिलने और उनका अभिवादन करने के लिए मंच की ओर दौड़ पड़े। बड़े बड़े विद्वान्, कुबेरपति और संभ्रान्त परिवार की महिलाएँ उनसे परिचय प्राप्त करने तथा उनका सान्निध्य पाने के लिए लालायित हो उठीं। श्रीमती ब्लॉजेट ने जो उस समय वहाँ उपस्थित थीं, बतलाया था, "जब वह नवयुवक उठा और उसने संबोधित किया–'अमेरिका निवासी बहनो और भाइयो,' तब सात हजार श्रोता हर्षविभोर हो उठ खड़े हुए, यह न जानते हुए कि किसकी अभ्यर्थना में वे वैसा कर रहे हैं। और जब उनकी वक्तृता समाप्त हो गई, मैंने देखा कि सैकड़ों महिलाएँ कुर्सियों को ठेल-कर उनके समीप पहुँचने का अथक प्रयत्न कर रही हैं। तब मैं स्वयं से कह उठी, 'बच्चे, अगर इस आक्रमण के बीच तू अपना मस्तिष्क ठीक रख सका तब तो तू वास्तव में भगवान् है'!"

(क्रमशः)

प्रश्न–महर्षि महेश योगी के 'ट्रासेंडेंटल मेडिटेशन' के बारे में क्या कुछ बता सकते हैं ?

– शोभन दवे, बम्बई

उत्तर–इस संबंध में मुझे विशेष जानकारी नहीं है। अच्छा होगा यदि आप सीधे उन्हीं को लिखकर पूछ लें।

* * *

प्रश्न–ध्यान का अर्थ क्या है? उसका लाभ क्या ? ध्यान का कोई सरल उपाय ?

–शीला जोशी, अजमेर

उत्तर–ध्यान किसी वस्तु पर किया जाता है। उसका अर्थ है–ध्येय वस्तु यानी जिस पर ध्यान किया जा रहा है उस वस्तु को छोड़ मन को और कहीं भी नहीं जाने देना। मन स्वभाव से चंचल है और एक स्थान पर नहीं ठहरता। जिस बात में उसे विशेष रुचि है वहां वह अधिक ठहरा करता है। यह भी ध्यान कहलाता है। पर जब साधना की और आध्यात्मिक दृष्टि से हम 'ध्यान' पर विचार करते हैं तो ध्यान भोग-विषयों का न होकर आध्यात्मिक सत्यों या व्यक्तियों का हुआ करता है। भोग-विषयों का ध्यान मन को अधिकाधिक चंचल बनाता है जिसके फलस्वरूप उसकी अन्तर्भेदन की शक्ति क्रमशः कम होती जाती

है। आध्यात्मिक भावों का ध्यान मन की बहिर्मुखता को रोककर उसे अधिकाधिक एकाग्र बनाता है जिससे मन अ-भौतिक राज्य में घुसनें की क्षमता प्राप्त करता है।

इस पर से ध्यान के लाभ को समझ लीजिए। जिसका मन चंचल है, उसका व्यक्तित्व अगठित है, वह जीवन के संघर्षों को ठीक ठीक झेलने में समर्थ नहीं होता। जीवन की छोटी छोटी घटनाएँ उसे परेशान करती हैं और उसका मानसिक तनाव बढ़ता जाता है। ठीक-ठीक ध्यान के फलस्वरूप मन में विवेचन-शक्ति पैदा होती है और वह वस्तुओं के स्वरूप को ग्रहण करने में क्रमशः समर्थ होता है। वैज्ञानिक जब बाहर के सत्यों पर ध्यान करता है तो भौतिक सत्य अपने आवरण को ठेलकर प्रकट हो जाते हैं। इसी प्रकार, जब साधक भीतर के सत्यों पर ध्यान करता है तो ये सत्य भी अपने अवगुण्ठन को त्यागकर, अस्पष्टता की छाया को दूरकर साधक के सामने उजागर हो जाते हैं। ध्यान मनुष्य के व्यक्तित्व को संगठित करता है और जीवन के आघातों का सामना करने की शक्ति देता है। वह बुद्धि को संतुलित करता है और अपने चरम लक्ष्य के रूप में जीवन के रहस्य को खोल देता है।

ध्यान का कोई भी उपाय सरल नहीं है। सभी उपायों में मन के साथ मानो युद्ध करना पड़ता है। तथापि एक उपाय इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

सुखासन में शान्त, स्थिर होकर बैठ जाये और साक्षी बनकर मन में उठनेवाले विचारों को देखते रहे। मन जब विचारों के प्रवाह में बह जाय तो ख्याल आने पर उसे पुनः विचारों का दर्शक बना दे। यह अभ्यास निरन्तर करते रहे।

मानो मन के दो भाग हो गये—एक साक्षी और दूसरा, इधर-उधर भागने वाला। साक्षी-मन को उसके साक्षीपन से न टलने दें। इसमें कई बार असफलता हाथ लगेगी, पर अध्यवसायपूर्वक अभ्यास करते रहें। नियम और निष्ठा के साथ प्रतिदिन यदि आधा घंटा यह अभ्यास किया जाय तो छः महीने में ही अभ्यासी को अपने मन में कुछ परिवर्तन अवश्य दिखायी देता है, जो उसकी प्रगति की सूचना है।

* * *

प्रश्न—मैं कभी कभी अचानक ही कारण उदास हो जाता हूँ और मुझे निराशा घेर लेती है। मुझे इससे बचने के लिए क्या करना चाहिए ? —सुशील साहू, बिलासपुर

उत्तर—आपकी उदासी के पीछे अवश्य कोई कारण होगा। जरा मन को गहराई से टटोलें। देखेंगे कि पहले अवश्य ऐसी कोई घटना हुई है, जो मन के प्रतिकूल थी। ऐसी घटनाएँ कभी कभी हमारी उदासी का कारण बनती हैं। आपको चाहिए कि आप बलपूर्वक पुरानी यादों से बचने की कोशिश करें। जब भी ऐसी स्मृति उभड़े, आप तुरन्त अपने को किसी काम में लगा लें या परिवार वालों के साथ जाकर बैठ जायें या अन्य परिचितों से वार्तालाप करने लगें। साथ ही, किसी अच्छे कार्य के साथ अपने को युक्त कर लें और इस प्रकार स्वयं को सत्कार्यों में, सद्ग्रंथों के अध्ययन में और सत्पुरुषों के संग में व्यस्त रखें। यदि मन ऐसा न करना चाहे, तो भी बलपूर्वक करें। इससे धीरे धीरे मन का विरोध समाप्त होगा और इन बातों के प्रति मन में रुचि पैदा हो जायेगी। फलस्वरूप, उदासी और निराशा के भाव धीरे धीरे कम होकर एक दिन बिल्कुल खत्म हो जायेंगे।

आश्रम समाचार

(१ दिसंम्बर १९६७ से २९ फरवरी १९६८ तक)

साप्ताहिक सत्संग

रविवासरीय गीता-प्रवचनमाला के अन्तर्गत स्वामी आत्मानन्द ने ३, १० दिसम्बर, ७ जनवरी तथा ४ और ११ फरवरी को गीता पर ५ प्रवचन दिये। ३१ दिसम्वर तथा १८ और २५ फरवरी को श्री प्रेमचंदजी जैस की सरस रामायण-कथा हुई।

आश्रम में अन्य कार्यक्रम

इस अवधि में आश्रम में कई प्रकार के कार्यक्रम हुए। १७ दिसम्बर को भगिनी निवेदिता की जन्म-शताब्दी रायपुर के प्रसिद्ध अधिवक्ता श्री डब्ल्यू० एन० मोकासदार की अध्यक्षता में मनायी गयी। इसी उपलक्ष में आश्रम के विवेकानन्द धर्मार्थ औषधालय में ऐलोपैथिक विभाग भी खोल दिया गया जिसका उद्घाटन श्री मोकासदार ने किया। ऐलोपैथिक विभाग के प्रमुख चिकित्सक हैं डा० अशोककुमार बोरदिया, एम. डी. [पेटरोग विशेषज्ञ]। उन्होंने निःशुल्क अपनी सेवाएँ इस कार्य के लिए अर्पित की हैं।

ऐलोपैथिक विभाग के उद्घाटन के पश्चात् भगिनी निवेदिता के जीवन और सन्देश पर एक सुन्दर परिसंवाद हुआ, जिसमें डा० नरेन्द्र देव वर्मा, श्री संतोषकुमार झा और श्रीमती विद्या गोलवलकर ने उस पुनीत आत्मा के जीवन के भिन्न भिन्न पहलुओं पर हृदयग्राही प्रकाश डाला।

२४ दिसम्बर को श्री मां सारदा देवी की ११५वीं जयन्ती मनायी गयी। भोर में मंगल-आरती और सामूहिक प्रार्थना की गयी। दिन में भजन-कीर्तन हुए और सन्ध्या एक सार्वजनिक

सभा का आयोजन हुआ जिसकी अध्यक्षता दुर्ग की श्रीमती पाटणकर ने की। इस अवसर पर प्राध्यापिका कुमारी कान्हे, प्रा० साधना मुखर्जी तथा डा० अशोककुमार बोरदिया ने श्री मां के जीवन और सन्देश पर भावप्रवण भाषण दिये।

विवेकानन्द जयन्ती महोत्सव

आश्रम का सातवां वार्षिकोत्सव स्वामी विवेकानन्दजी के १०६ ठे जन्मदिवस के उपलक्ष में १२ से लेकर २८ जनवरी तक मनाया गया। १२ और १३ जनवरी को क्रमशः माध्यमिक और उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों के विद्यार्थियों के लिए भाषण प्रतियोगिता रखी गयी। विजेता विद्यालय को रनिंग शील्ड तथा प्रथम दो श्रेष्ठ वक्ताओं को व्यक्तिगत पुरस्कार दिये गये। इसी प्रकार १४ जनवरी को अन्तर्महाविद्यालयीन वादविवाद प्रतियोगिता रखी गयी और १५ जनवरी को अन्तर्महाविद्यालयीन भाषण प्रतियोगिता। इन दोनों प्रतियोगिताओं में स्थानीय दुर्गा महाविद्यालय विजयी हुआ और प्रत्येक प्रतियोगिता की रनिंग शील्ड उसे प्राप्त हुई।

१६ से २२ जनवरी तक भारत-प्रसिद्ध रामायणी पंडित रामकिंकर जी उपाध्याय का अत्यन्त सरस और मर्मस्पर्शी रामायण-प्रवचन हुआ। अपनी पैनी आध्यात्मिक दृष्टि से उन्होंने रामायण के मार्मिक किन्तु दुरूह स्थलों की ऐसी सटीक व्याख्या की कि श्रोतागण मुग्ध हो गये।

२२ जनवरी को स्वामी विवेकानन्दजी की जन्मतिथि थी। उस दिन प्रातः उपासना-गृह में मंगल-आरती और सामूहिक प्रार्थना की गयी तथा ९ से १० बजे तक डा. अरुणकुमार सेन के बड़े ही सुन्दर भजन-गीत हुए।

२३, २४ और २५ जनवरी को विलक्षण प्रतिभा-

सम्पन्न ११ वर्षीया बालिका सरोजबाला के गीता पर गूढ़ और मनोमुग्धकारी प्रवचन हुए। अपने विचारों की गम्भीरता और व्यापकता से बालिका ने समस्त श्रोताओं को चमत्कृत कर दिया।

इन्हीं तीनों दिन सन्त श्री विरागी जी महाराज के भी बड़े विचारप्रवण प्रवचन हुए। साथ ही मधुर भगन्नामसंकीर्तन का पान भी उन्होंने श्रोतृसमुदाय को कराया। विरागीजी के प्रवचन और संकीर्तन से उपस्थित विशाल जनसमुदाय बड़ा ही प्रभावित हुआ। २६ और २७ जनवरी को स्वामी आत्मानन्द की अध्यक्षता में 'मानव-जीवन का प्रयोजन' इस विषय पर परि-संवाद हुआ। प्रमुख वक्ता सन्त विरागीजी थे। स्वामी आत्मा-नन्द और विरागीजी ने मानव-जीवन के उद्देश्य पर तर्कसंगत विवेचन किया और बताया कि सत्य को जान लेना ही जीवन की परिपूर्णता है। मनुष्य को बुद्धि-रूपी औजार इसीलिए मिला है कि वह सत्य की अनुभूति कर ले। आत्मानन्दजी ने स्वामी विवेकानन्द का कथन उद्धृत करते हुए कहा—'प्रत्येक जीव अव्यक्त ब्रह्म है। भीतरी और बाहरी प्रकृतियों का नियमन कर इस छिपे हुए ब्रह्मभाव को प्रकट कर लेना ही मानव-जीवन का लक्ष्य है।'

अन्तिम दिन २८ जनवरी को सुबह ५ बजे विरागी जी के नेतृत्व में नगर के इतिहास में पहली बार, आश्रम से नगर–संकीर्तन प्रारम्भ हुआ और प्रमुख मार्गों से होता हुआ ८ बजे संकीर्तन–दल आश्रम वापस आ गया। सैकड़ों आबाल-वृद्ध-वनिता इस दल में शामिल हुए थे। सन्ध्या को स्वामी विवेका-नन्द के जीवन और सन्देश पर एक रोचक एवं ज्ञानवर्धक परिसंवाद रखा गया था जिसकी अध्यक्षता रायपुर संभाग के आयुक्त श्री लालचन्दजी गुप्त ने की। इसमें भाग लेनेवाले

वक्ता थे- विज्ञान महाविद्यालय के प्राचार्य श्री राजेश्वर गुरु, प्रशिक्षण महाविद्यालय के प्राचार्य डा. चन्द्रप्रकाश वर्मा, श्री विरागीजी और स्वामी आत्मानन्द।

श्री राजेश्वर गुरु ने कहा कि स्वामी विवेकानन्द धार्मिक व्यक्ति थे और मानवधर्म के प्रेरक थे। उन्होंने गिरे हुए आदमी की गिरी हुई भावनाओं के विरुद्ध विद्रोह का झंडा उठाया था। उनकी यह सतत चेष्टा रही कि आदमी, आदमी बनकर रहे। उन्होंने पीड़ितों, पतितों की सेवा को अपनी साधना का पथ बनाकर इस देश की मिट्टी को मनुष्य बनने की क्षमता दी।

डा. वर्मा ने आश्रम द्वारा आयोजित कार्यक्रमों से प्रभावित होकर कहा कि आज जब चारों ओर भौतिकवाद गहन रूप धारण कर रहा है, ऐसी स्थिति में यहां एक स्थान ऐसा भी है जहां धर्म सांसें ले रहा है। वर्माजी ने अपनी साहित्यिक वाणी में पूर्वी और पश्चिमी जगतों के भेदों को स्पष्ट किया और श्रीरामकृष्ण के साथ नास्तिक नरेन्द्र के मिलन को पूर्व और पश्चिम का, परमात्मा और भक्त का, संकल्प और कर्म का मिलन बताया। उन्होंने कहा कि विवेकानन्द का क्रांतिकारी सन्देश यही था- शक्ति को संचय करो; तन भोग का नहीं, सेवा का विषय है; अपने मन को नियंत्रित करो और धन की आसक्ति समाप्त करो, क्योंकि आत्मा के विकास के लिए धन कोई चीज नहीं खरीद सकता।

सन्त विरागीजी ने कहा कि विश्वधर्म के सन्देशवाहक श्री रामकृष्णदेव के परम शिष्य स्वामी विवेकानन्द की जयन्ती मनाना सन्त के संकल्प का साकार रूप है। सन्त की आज्ञा ही सत्य की आज्ञा होती है, सन्त की पूजा ही सत्य की पूजा और

सन्त का स्मरण ही सत्य का स्मरण है। सन्त किसी जाति, सम्प्रदाय या वर्ग में बँधा नहीं होता। सारा विश्व उसका परिवार होता है'। स्वामी विवेकानन्द ने भी इसी सार्वभौम सत्य को प्रकट किया है। विवेकानन्दजी ने प्राणीमात्र में परमात्मा का दर्शन किया था। हम त्यागी बनें, सेवापरायण बनें, हमारे हृदय में दूसरे के प्रति प्रेम की अभिव्यक्ति हो- यही स्वामी विवेकानन्द के प्रति हमारी सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

स्वामी आत्मानन्द ने कहा कि स्वामी विवेकानन्द वैज्ञानिक प्रगति के विरोधी नहीं थे। वे संसार और ईश्वर, प्रवृत्ति और निवृत्ति, अभ्युदय और निःश्रेयस् को परस्पर विरोधी नहीं बल्कि एक दूसरे का परिपूरक मानते थे। विवेकानन्दजी कहते थे कि सेवा को ही साधना बना लेनी चाहिए। जिस प्रकार निभृत गुफा में जाकर ध्यान-उपासना करना उस परमात्मा को पाने की साधना है, उसी प्रकार मानव-मात्र की सेवा करना भी उसी ईश्वर को प्राप्त करने की साधना है। स्वामी विवेकानन्द आत्मसुधार पर बड़ा जोर देते थे। वे कहते थे-पहले अपने को सुधार लो, फिर दूसरे को सुधारने का प्रयास करना। आत्मानन्दजी ने कहा कि आज की अराजकतापूर्ण स्थिति का कारण यह है कि मनुष्य ठीक इसके विपरीत आचरण कर रहा है, वह दूसरों को सुधारने की फिक्र में है, अपने सुधार का उसे होश नहीं।

अन्त में, इस वार्षिकोत्सव के उपलक्ष में हुई विभिन्न प्रतियोगिताओं में विजयी विद्यालयों और महाविद्यालयों तथा छात्र-छात्राओं को पुरस्कार वितरण करने के उपरान्त, सभा के अध्यक्ष श्री लालचन्दजी गुप्त ने समारोप करते हुए स्वामी विवेकानन्द के बहुमुखी व्यक्तित्व की चर्चा की तथा आज के सन्दर्भ में, जब सभी बातें अव्यवस्थित और बिखरी हुई मालूम

पड़ती हैं, स्वामीजी के सन्देश के महत्वपूर्ण अंगों को प्रस्फुट किया।

इन समस्त कार्यक्रमों में श्रोताओं की उपस्थिति २,५०० से लेकर १७,००० तक थी।

स्वामी आत्मानन्द के अन्यत्र कार्यक्रम

७ दिसम्बर को स्वामीजी ने गोंदिया में 'स्वामी विवेकानन्द शिला स्मारक निधि एकत्र अभियान' का उद्घाटन करते हुए 'विवेकानन्द शिला' के महत्व पर चर्चा की। १० दिसम्बर को रायपुर में हुई विश्व हिन्दू परिषद् की बैठक की अध्यक्षता की। १६ दिसम्बर को इन्दौर में गीता भवन में गीता जयन्ती में भाग लेते हुए उन्होंने 'गीता का प्रयोजन' इस विषय पर दो मार्मिक भाषण दिये। उसी दिन अपराह्न मेडिकल कालेज में आयोजित 'अन्तर्महाविद्यालयीन वादविवाद प्रतियोगिता' की अध्यक्षता की। इस वादविवाद का विषय था– 'भारत में जन्म लेना गर्व की बात है'।

१ और २ जनवरी को स्वामीजी ने पटना में आयोजित अखिल प्रान्तीय योग सम्मेलन में भाग लिया और 'योग और शिक्षा' विषय पर दो प्रभावी भाषण दिये। ३ जनवरी को पटना स्थित रामकृष्ण आश्रम के प्रांगण में उन्होंने 'श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द' विषय पर मर्मस्पर्शी प्रवचन दिया। ३० जनवरी को वे अकलतरा में थे जहां अपराह्न में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जांजगीर तहसील के सम्मेलन के उपलक्ष में आयोजित सार्वजनिक सभा की उन्होंने अध्यक्षता की। रात्रि में ८ बजे अकलतरा उ. मा. शाला के वार्षिकोत्सव का उद्घाटन करते हुए उन्होंने 'गीता का कर्मयोग' पर सुलझा हुआ, वैज्ञानिक और व्यावहारिक भाषण दिया।

७ फरवरी को बैतूल में विवेकानन्द ज्ञान मन्दिर में आयोजित सर्वधर्मसम्मेलन में स्वामीजी 'हिन्दू धर्म' पर बोले और ८ फरवरी के सम्मेलन की उन्होंने अध्यक्षता की। ९ फरवरी को मुलताई में विवेकानन्द शिला स्मारक समिति द्वारा आयोजित कार्यक्रम में भाग लिया। १८ फरवरी को बम्बई योग सेमिनार द्वारा आयोजित अखिल भारतीय योग सम्मेलन में उन्होंने 'विज्ञान के युग में योग का भविष्य' विषय पर अत्यन्त प्रभावी भाषण दिया। २१ फरवरी को सोमैय्या ट्रस्ट कालेज में बम्बई योग विद्यालय के शिलान्यास के अवसर पर दो शब्द बोले। २५ और २६ फरवरी को इन्दौर में रामकृष्ण आश्रम द्वारा आयोजित कार्यक्रम में क्रमशः 'श्रीरामकृष्णदेव का समन्वय योग' तथा 'स्वामी विवेकानन्द का राष्ट्रयोग' इन दो विषयों पर बड़े ही प्रेरक व्याख्यान दिये। २६ फरवरी को वहां के गीता भवन के प्रातःकालीन सत्संग में 'सत्संग की महिमा' पर प्रवचन दिया।

●

अविज्ञाय फलं यो हि कर्मत्वे चानुधावति ।
स शोचेत्फलवेलायां यथा किंशुकसेचकः ॥

– जो फल को जाने बिना ही कर्म की ओर दौड़ता है, वह फलप्राप्ति के अवसर पर केवल शोक का भागी होता है–जैसे कि पलाश को सींचने वाला पुरुष उसका फल न पाने पर खिन्न होता है।

– वाल्मीकि

Registered with the Registrar of News Papers
for India under No. R N 7764/63

श्रीरामकृष्ण उवाच

समाधि होने पर सारे कर्म छूट जाते हैं। पूजा-जप तथा सांसारिक कर्म सभी का त्याग हो जाता है। पहले पहल कर्म की बड़ी हलचल रहती है। ईश्वर की ओर जितना बढ़ोगे, कर्मों का दिखावा उतना ही कम होगा। यहाँ तक कि उनका नाम-संकीर्तन भी बंद हो जाता है। (शिवनाथ से) जब तक तुम सभा में नहीं आये थे, तुम्हारा गुणगान बहुत हो रहा था। ज्योंही तुम आये कि वह सब बन्द हो गया। तब तो तुम्हारे दर्शन में ही आनन्द मिलने लगा। लोग कहने लगे, 'यह देखो, शिवनाथ बाबू आये।'

मेरी जब यह अवस्था हुई तो तर्पण करते समय हाथ की अंगुलियों में से सारा जल बह गया। मैंने हलधारी से रोते रोते पूछा, 'भैया, मेरा यह क्या हुआ?' हलधारी बोले, 'इसे गलित-कर्म अवस्था कहते हैं।' ईश्वर के दर्शन होने पर तर्पण आदि कर्म नहीं रह जाते।

गृहस्थ की बहू गर्भवती होने पर उसकी सास उसके काम कम कर देती है। दसवें महीने उसे लगभग काम करना ही नहीं पड़ता। बच्चा होने पर तो काम एकदम छूट जाता है। वह अपने बच्चे को लेकर ही व्यस्त रहती है। घर का काम उसकी सास, ननद, देवरानी आदि करती हैं।

जैसे ब्राह्मण-भोजन। पहले तो खूब हो-हल्ला। जब सब लोग पंगत में बैठ जाते हैं तो हो-हल्ला काफी कम हो जाता है। तब केवल 'पूरी लावो' 'पूरी लावो' यही रव सुनाई देता है। पूरी-तरकारी खाना शुरू करने पर हल्ला बारह आना कम हो जाता है। जब दही आया तब केवल सप्-सप्। और खाने के बाद नींद। तब सब चुप।

इसीलिए कहता हूँ, पहले पहल कर्मों का बड़ा हो-हल्ला रहता है। ईश्वर की ओर बढ़ने पर कर्म कम हो जाते हैं। अन्त में कर्मत्याग और समाधि!

—२८ अक्तूबर, १८८२

Cover Printed at : Shivraj Fine Arts, Nagpur.